दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

卐 : संपादक : **जगजीवन बाउचंद दोशी** (सावरकुंडला) 卐

सितम्बर : १९६३ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ५

पर्यूषण ★ पर्व

ब्रह्मचर्य ★ अंक

रयणत्तये अलद्धे भमिओसी दीह संसारे।
इव जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह॥

रे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को धारण नहीं करने से तू इस दीर्घ संसार में रुला; इसलिये अब तू इस रत्नत्रय का उत्तम प्रकार से आचरण कर—ऐसा जिनेश्वरदेव ने कहा है।

श्री जैन दर्शन शिक्षण वर्ग

में इस साल लाभ लेनेवालों की संख्या २२५, पढ़ाई में मोक्षमार्गप्रकाशक में से ७ तत्त्वों की भूल; जैन तत्त्व मीमांसा में से निमित्त-उपादान; द्रव्यसंग्रह, छहढाला, जैन सिद्धांत प्रवेशिका, माननीय श्री रामजीभाई ने निमित्त-उपादान, पुरुषार्थ आदि पाँच समवाय कारण में सब कारण आ जाते हैं, सम्यक् नियति, अर्थात् नियमित-व्यवस्थित ज्ञान और ज्ञेय, अकालमृत्यु-(उदीरणामरण; सोपक्रमआयु) आदि विषयों को सम्यक् अनेकांत शैली से चारों अनुयोग के शास्त्रों के आधार सहित बहुत स्पष्ट करके समझाया था। तारीख १४ और १५-८-६३ के दिन परमोपकारी पूज्य स्वामीजी के प्रति धर्म जिज्ञासुओं ने कुछ वक्तव्य द्वारा श्रद्धांजलि देकर भक्ति भाव प्रगट करके आभार प्रदर्शित किया।

[श्री देवीलालजी महेता (उदयपुर) जो छह साल से सोनगढ़ आते हैं, तत्त्व समझने में असाधारण बुद्धि और जिज्ञासा रखते हैं, ऐसे कई मुमुक्षु हैं जो विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।]

—ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

हर्षदायक समाचार

राजकोट (सौराष्ट्र) में समवसरण (-जिनेन्द्र तीर्थंकर भगवान की दिव्य धर्म सभा) और मानस्तंभ (धर्म वैभवस्तंभ) बनाने का विचार राजकोट दिगम्बर जैन समाज ने प्रगट किया है। बंबई-दादर विभाग में श्री कहान नगर जैन सोसायटी में जिन मंदिर तथा समवसरण तैयार हो चुके हैं। रखिआल (अहमदाबाद) जिन मंदिर तैयार हो रहा है। सोनगढ़ में यात्रियों के लिये धर्मशाला हो रही है, कार्तिक में पूर्ण होगी। तीर्थयात्रा का बड़ा सचित्र ग्रंथ गुजराती भाषा में छपकर तैयार हो रहा है, वह भी कार्तिक मास में पूर्ण होगा।

[राजकोट, पोरबंदर में तथा कुंडला शहर के नजदीक के जैनेतर भाई दिगम्बर जैन धर्म में परीक्षा, श्रद्धा और प्रेमपूर्वक दिगम्बर जैन ग्रंथों की स्वाध्याय करते रहते हैं और अपने जीवन में बहुत सुधार भी कर रहे हैं।]

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : **जगजीवन बाउचंद दोशी** (सावरकुंडला) 卐

सितम्बर : १९६३ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ५

मोक्षमार्ग में सर्वथा राग का निषेध–वीतरागता का ग्रहण
निश्चय–व्यवहार कथित साध्य–साधन की सुसंगतता

श्री पंचास्तिकाय गाथा १७२ ऊपर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन

(राजकोट, तारीख ५-५-६२)

यह पंचास्तिकाय समयसार शास्त्र है। इस गाथा में निश्चय और व्यवहारनय के निरूपण का सुमेल किसको कहना चाहिये उसका स्पष्टीकरण है, कारण कि दो नयों के अर्थ को नहीं समझनेवाले धर्म के नाम पर महान विपरीतता करते हैं।

शास्त्र में व्यवहारनय से जो कथन आता है, उसमें साधकदशा में किस गुणस्थान में कैसा राग होता है, तथा उसमें साधनपने का आरोप कब आयेगा यह बताकर, वीतरागता से ही मोक्षमार्ग बताया है। पराश्रयरूप और पर्याय के भेदरूप व्यवहार जहाँ पर जैसा हो, उसप्रकार जानने योग्य है; किंतु उसका आश्रय करने से आत्मा को हितरूप धर्म होगा, ऐसा किसी जैन शास्त्र में किसी आचार्य ने कहा ही नहीं है।

(यहाँ पर पूर्व के अनुसंधान के लिये मूल पुस्तक में से आधार लेने में आया है।)

गाथा १७१ में कहा है कि 'जो जीव अरहंतादि की प्रतिमा–शास्त्र के प्रति भक्तियुक्त है, उपरांत परम संयमसहित तपरूप कार्य करता है, वह भी स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है।' (कारण कि जिस भाव से बंधन होता है, उस भाव से किसी को, किसी भी काल में किंचित् धर्म नहीं होता तथा धर्म से बंधन नहीं होता)। गाथा १७१ की सूचनिका में श्री आचार्यदेव ने कहा है कि 'यह मात्र

अरहंतादि की भक्ति जितने राग से उत्पन्न होनेवाला जो साक्षात् मोक्ष का अंतराय, उसका प्रकाशन है।' [इसमें सम्यग्दृष्टि के शुभराग को भी मोक्षमार्ग में बाधक ही गिना है।]

'जो जीव वास्तव में अरहंतादि की भक्ति के आधीन रागबुद्धिवाला वर्तता हुआ, परम संयम प्रधान अति तीव्र तप तपता है, वह (जीव), मात्र उतने रागरूप क्लेश से जितना निज अंतःकरण कलंकित (-मलिन) है, ऐसा वर्तता हुआ, विषयविषवृक्ष के आमोद से जहाँ अंतरंग (-अंतःकरण) मोहित होता है, ऐसे स्वर्ग लोक को-जो कि साक्षात् मोक्ष के लिये अंतरायभूत है उसको—संप्राप्त करके, सुचिरकालपर्यंत रागरूपी अंगारों से दह्यमान हुआ अंतर में संतप्त (—दुःखी, व्यथित) होता है।' इसलिये हे मोक्षाभिलाषी जीव! सर्वत्र किंचित् भी राग मत करो। ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भवसागर को तरता है।

टीका में श्री अमृतचंद्राचार्यदेव कहते हैं कि—यह साक्षात् मोक्षमार्ग के सार-सूचन द्वारा शास्त्र तात्पर्यरूप उपसंहार है।

साक्षात् मोक्षमार्ग में अग्रसर वास्तव में वीतरागपना ही है। इसलिये अरहंतादि के प्रति का राग-अरहंतादिक विषयक राग को भी, चंदन वृक्ष संगत अग्नि के समान-देव-लोकादिक के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यंत अंतर्दाह का कारण समझनकर, साक्षात् मोक्ष का अभिलाषी महाजन सबकी ओर के राग को छोड़कर, अत्यंत वीतराग होकर, जिसमें उबलती हुई दुःखसुख की कल्लोलें उछलती हैं और जो कर्माग्नि द्वारा तप्त खलबलाते हुए जल-समूह की अतिशयता से भयंकर है, ऐसे भवसागर को पार उतरकर, शुद्धस्वरूप परमामृत-समुद्र को अवगाहकर, शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।

आगम कहता है कि इस शास्त्र का तात्पर्य क्या है कि सर्व पुरुषार्थों में सारभूत ऐसे मोक्ष तत्त्व का प्रतिपादन करने के हेतु से जिसमें पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य के स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा समस्त वस्तु का स्वभाव दर्शाया गया है, नव पदार्थों के विस्तृत कथन द्वारा जिसमें बंध-मोक्ष के संबंधी (स्वामी), बंध-मोक्ष के स्थान और भेद प्रगट किये गये हैं, निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का जिसमें सम्यक् निरूपण किया गया है तथा साक्षात् मोक्ष के कारणभूत परम वीतरागपने में जिसका समस्त हृदय स्थित है—ऐसे इस यथार्थ पारमेश्वर शास्त्र का, परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है।

सो इस वीतरागपने का व्यवहार-निश्चय के अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाये तो इष्ट

सिद्धि होती है, परंतु अन्यथा नहीं। निश्चय-व्यवहार का अविरोधपना क्या है? कि छट्ठे गुणस्थान में मुनि-योग्य शुद्धपरिणति निरंतर होना तथा महाव्रतादि संबंधी शुभभाव यथायोग्यरूप से होना, वह निश्चय-व्यवहार के अविरोध का (सुमेल का) उदाहरण है। पाँचवें गुणस्थान में उस गुणस्थान के योग्य शुद्धपरिणति निरंतर होना तथा देशव्रतादि संबंधी शुभभाव यथायोग्यरूप से होना, वह भी निश्चय-व्यवहार के अविरोध का उदाहरण है, अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग कथित व्यवहार और निश्चय की सुसंगतता रहे, इसप्रकार वीतरागता का अनुसरण किया जाये, तभी इच्छित की सिद्धि होती है; अन्य प्रकार से होती ही नहीं।

उपरोक्त बात विस्तार से समझाने में आती है:—साधक को भिन्न साध्य-साधन भाव क्यों और कब तक होता है कि अनादि काल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण अर्थात् भेद की ओर लक्ष्य जाता है, इसलिये प्राथमिक जीव निश्चयसहित व्यवहारनय के विषयभूत भिन्न साध्य-साधन भाव का अवलंबन लेकर सुगमता से मोक्षमार्ग की प्रारंभ भूमिका का सेवन करते हैं। यहाँ भेदवासित बुद्धि-छट्ठे गुणस्थान तक, चारित्र में बुद्धिपूर्वक विकल्प रहता है, उसको व्यवहारनय का अवलंबन कहने में आता है; किंतु वास्तव में उसके आश्रय से मोक्षमार्ग है, ऐसा कोई ज्ञानी नहीं मानता।

मोक्षमार्ग को प्राप्त ज्ञानी जीवों को प्राथमिक भूमिका में साध्य तो परिपूर्ण शुद्धरूप से परिणत आत्मा ही है और उसका साधन व्यवहारनय से आंशिक शुद्धि के साथ रहे हुए भेद रत्नत्रयरूप परावलंबी विकल्प कहने में आते हैं। इस रीति से उन जीवों को व्यवहारनय से साध्य साधन भिन्न प्रकार के कहने में आये हैं। (निश्चयनय से दोनों अभिन्न होते हैं।)

व्यवहार—श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र के विषय आत्मा से भिन्न हैं, कारण कि व्यवहारश्रद्धान का विषय नव पदार्थ है; व्यवहारज्ञान का विषय अंगपूर्व है और व्यवहारचारित्र का विषय आचारांगादि शास्त्र कथित मुनि-आचार हैं।

प्रश्न:—सर्वप्रकार का शुभराग वास्तव में बाधक ही है, वीतरागभाव से विरुद्ध है, तथापि उसको साधन-साधक क्यों कहा है, अथवा मोक्षमार्ग में उसको भिन्न साधन क्यों कहने में आता है?

उत्तर:—(१) इस जाति का राग वहाँ निमित्तरूप से था, ऐसा बताने के लिये भूतनैगमनय से साधक कहा है, वह असद्भूत व्यवहारनय का कथन है, लेकिन तत्त्वदृष्टि से देखने पर वह शुभरागरूप व्यवहार, निश्चय मोक्षमार्ग से विरुद्ध भाव ही है, तथा निश्चयरत्नत्रय के बिना वह

उपचार (व्यवहार) रत्नत्रय नाम न पाकर व्यवहाराभास ही कहने में आता है। और ज्ञानी भेदरूप, पराश्रयरूप किसी भी व्यवहार का—आलंबन लेना नहीं चाहता, किंतु मुख्य चैतन्य सामान्य स्वभाव का आलंबन लेकर स्थिर होना ही चाहता है। लेकिन मंद पुरुषार्थ के समय बीच में व्यवहार का आलंबन आ जाता है, इसलिये अशुभ से बचने के लिये उसको व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है, परंतु सचमुच वह साधन नहीं है; किंतु जहाँ निश्चयरत्नत्रय होता है, वहाँ ऐसा ही शुभराग आता है। उसका आश्रय छोड़कर, स्वाश्रय करने योग्य है, ऐसा बताने के लिये, उसको सहचरहेतुरूप व्यवहाररत्नत्रय कहा है तथा भिन्न-निमित्तरूप बाह्य साधन कहा है।

प्रश्नः—उसको सहचर हेतु अथवा साधक क्यों कहा जाता है?

उत्तरः—अन्यमती ऐसा मानते हैं कि मोक्षमार्ग में चाहे जैसा संयोग और व्यवहार भले हो, चाहे जैसे देव-गुरु-शास्त्र का आलंबन हो, क्षेत्र-काल वश चाहे जेसे भेष, व्रतादि हो, तो वैसा कभी भी नहीं होता, किंतु जिसप्रकार सर्वज्ञ वीतराग के आगम में कहा है, बराबर वैसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध का सुमेल भूमिकानुसार होता है, उसमें कुछ अपवाद=विपरीत का संबंध नहीं होता। ऐसा अविनाभाव नियम बताने के लिये सर्वज्ञकथित व्यवहाररत्नत्रय को ही निमित्तरूप से सहचर हेतु कहा है, तथा उसको ही व्यवहार से साधक कहा है, उसका अर्थ निश्चय से तो बाधक ही है, शुभराग मोक्षमार्ग से विरुद्ध भाव है, तथापि चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान में जिस जाति का जितना रागांश रहता है वह, उस भूमिका के लिये साक्षात् बाधक नहीं है, आत्मा में इतना अराग भाव होता है, वहाँ ऐसे प्रकार का ही शुभराग (व्यवहार) होता है, ऐसा बताने के लिये उसको उपचार से साधक (भिन्न साधन) कहने में आया है।

प्रश्नः—इस राग को परम्परा मोक्ष का कारण क्यों गिना है?

उत्तरः—इस जात का शुभराग को छेदकर, वीतरागता प्रगट करेगा, तब मोक्ष होगा; मिथ्यात्व की भूमिका का राग अथवा भूमिका से विरुद्ध जाति का संयोग व राग निमित्तरूप से होवे और उस राग को नष्ट करके मोक्ष जायेगा, ऐसा नहीं समझना तथा राग तो प्रत्येक समय में वीतरागता का घातक ही है, तथापि शुद्धपरिणतिरूप भूमिकानुसार कैसा राग उचित निमित्तरूप से उपचार साधन अर्थात् व्यवहार कारण, ऐसे नाम को प्राप्त होता है, वह बताने के लिये उसको ही परम्परा कारण गिना है।

प्रथम से ही उस राग को छेदने योग्य ही है और वीतरागता प्रगट करने योग्य है, ऐसा मानता

है, उसको ही इस रीति से कथन लागू पड़ता है।

अब जिन्होंने द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धानादि प्रगट किया है, ऐसे सम्यग्ज्ञानी जीवों को तीर्थ (मोक्षमार्ग) सेवन की प्राथमिक दशा में आंशिक शुद्धि के साथ-साथ श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र संबंधी परावलंबी विकल्प, एक अंश में भेद रत्नत्रय होता है, कारण कि अनादि काल से जीवों की जो भेदवासना से वासीत् परिणति चलती आती है, भेद ऊपर लक्ष्य जाता है, उसका तुरंत ही सर्वथा नाश करना कठिन है। साधक जीव को आंशिक राग और आंशिक वीतरागता है, उसमें भूमिकानुसार कैसे-कैसे प्रकार होते हैं, यह बताना है यहाँ पर मुख्यरूप से छट्ठे गुणस्थान में भेदज्ञानपूर्वक क्या विचारणा आती है, वह बताना है, किस जाति के व्यवहार की ओर लक्ष्य जाता है, वह बताते हैं; जैसे कि (१) यह श्रद्धा करने योग्य है; (२) यह श्रद्धा करने के योग्य नहीं; (३) यह श्रद्धा करनेवाला है, और (४) यह श्रद्धारूप पर्याय है, (१) यह ज्ञेय (जानने योग्य) है, (२) यह अज्ञेय है (३) यह ज्ञाता है, और (४) यह ज्ञान है; (१) यह आचरण करने योग्य है, (२) यह आचरण करने योग्य नहीं है, (३) यह आचरण करनेवाला है, और (४) यह आचरण है—ऐसा (१) करने योग्य, (२) नहीं करने योग्य, (३) कर्त्ता, और (४) कर्म-कार्यरूप विभागों के अवलोकन द्वारा, जिनको सुंदर उत्साह उल्लसित होता है, ऐसे वे प्राथमिक जीव (निश्चयरत्नत्रयसहित सविकल्पदशा, छट्ठे गुणस्थान में जो बारंबार आते हैं, उनको यहाँ मोक्षमार्ग में प्राथमिक जीव गिना है) मोहमल्ल को (रागादि को) उखाड़ते जाते हैं; कदाचित् अज्ञान के कारण (निर्विकल्प समाधिरूप स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव के कारण), मद (कषाय) और प्रमाद के वश होने से (छट्ठे गुणस्थान में) अपना आत्म अधिकार (स्वरूप में सावधानी) शिथिल हो जाने पर अपने को न्यायमार्ग में प्रवर्ताने के लिये वे प्रचंड दंड नीति का प्रयोग करते हैं; पुनः पुनः (अपने आत्मा को) दोषानुसार प्रायश्चित्त देते हुए वे निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं।

और भिन्न विषयवाले श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र द्वारा (आत्मा से भिन्न जिसके विषय हैं, ऐसे शुभरागरूप भेदरत्नत्रय द्वारा) जिनमें संस्कार आरोपित किये जाते हैं, ऐसे भिन्न साध्यसाधन भाववाले अपने आत्मा में—धोबी द्वारा शिला की सतह पर पछाड़ने से, निर्मल जल द्वारा भीजाना और क्षार (साबुन) लगाने से मलिन वस्त्र के समान—थोड़ी-थोड़ी विशुद्धि प्राप्त करके यानि कि भेदज्ञानी को शुद्धि की भूमिका बताने के लिये यह दृष्टांत है; वास्तव में तो अंतर में अभेद साधन से ही काम होता है।

'भेदज्ञान साबु भयो समरस निर्मल नीर,
धोबी अंतर आत्मा धोवे निज गुण चीर।'

इसप्रकार जहाँ अभेद साध्य-साधन भाव होता है, वहाँ असद्‌भूत व्यवहारनय का विषय शुभराग किसप्रकार का होता है, वह बताते हैं, उसमें केवल राग नहीं है किंतु साथ में सर्वप्रकार के राग का निषेध करनेवाली, राग के अभावरूप वीतरागी दृष्टि उपरांत आंशिक वीतराग चारित्र वर्तता है, वह मुख्य है, शुभाशुभराग का अंश गौण है, उसका स्वामित्व-कर्तृत्व नहीं है।

यह आत्मा वास्तव में शरीर, वाणी, कर्म और संयोगों से त्रिकाल भिन्न और ज्ञानानंद -स्वभाव से परिपूर्ण है; उसकी दृष्टि, उसका ज्ञान और उसमें आंशिक वीतरागी चारित्र सहित धर्मी जीव है। फिर भी उसकी वर्तमान दशा में शुभाशुभभाव होते हैं; व्रत, तप, विनय, भक्ति आदि की वृत्तियाँ उठती हैं, उनसे भी भिन्न अर्थात् शून्य और अंतर में ज्ञानानंद शक्ति से भरपूर हूँ, ऐसे निश्चय अनुभवसहित ही है। सम्यग्दर्शन होने के बाद विशेष पुरुषार्थ की निर्मल परिणति होने पर, किस जगह किसप्रकार का राग आता है, वह बताने में आता है। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा का राग, नवतत्त्वों का विचार, और शुभराग, देशव्रत, महाव्रत आदि का शुभभाव यह होता है अवश्य परंतु यह असद्‌भूत व्यवहारनय का विषय है; आस्त्रवतत्त्व है, इसलिये बंध का ही कारण है; वे कोई शुभभाव निश्चय, निर्विकल्पता की प्राप्ति करावे, ऐसा कभी नहीं बनता। ऐसा होने पर भी उसको सहचर गिनकर मोक्ष का व्यवहार कारण कहना, वह व्यवहार-उपचार है, परमार्थ नहीं है; इसलिये वास्तव में वह शुभराग शुद्धि का कारण नहीं हो सकता, किंतु निश्चयमोक्षमार्गरूप वीतरागभाव ही शुद्धि का कारण है। इतना स्वीकार करने के बाद, आंशिक वीतरागता के साथ रहे हुए शुभराग को शुद्धि के संस्कार आरोपित करनेवाला कहा है—यह उस-उस भूमिका में उचित निमित्त बतानेवाले व्यवहारनय का कथन है। इस बात को भिन्न साध्य-साधन के दृष्टांत तरीके, धोबी द्वारा वस्त्र धोने का दृष्टांत दिया है।

प्रथम मोक्षमार्ग की शुरुआत में निश्चय श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र है किंतु विशेष चारित्र नहीं है। वहाँ उस दशा के योग्य राग व्यवहाररत्नत्रयरूप से होता है, लेकिन धर्मी जीव उस शुभराग की क्रिया से लाभ नहीं मानता, किंतु जहाँ ऐसा आंशिक वीतरागभाव होता है, वहाँ ऐसा रागभाव होता है, उसको व्यवहारनय से शुद्धि का कारण कहा है।

प्रथम पदवी में अर्थात् मोक्षमार्ग की शुरुआत में जहाँ बारंबार निर्विकल्प अभेद रत्नत्रयरूप

सातवाँ गुणस्थान तो आता है किंतु भेद-वासना (आंशिक प्रमाद-स्व में असावधानी) होने से छट्ठे गुणस्थान में भेद रत्नत्रय का आलंबन आ जाता है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद से छूटकर निर्विकल्प चारित्र में ज्यादा काल एकाकार स्थिर नहीं रहता, वहाँ भेदरत्नत्रय बीच में आता है।

सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञानादि के भेद विकल्प से पार अतीन्द्रिय अभेद आत्मा का अनुभव तो हुआ रहता है, पाँचवें गुणस्थान में भी अनुभव हुआ करता है, उस समय बुद्धि ग्राह्य राग नहीं होता; जब विकल्प उठता है, तब ऐसे राग भाव आता है, उसको टालकर जो अकेले आनंदकंद में केलि करते हैं, उनको व्यवहार के विकल्प नहीं हैं। लेकिन जो जीव उस दशा से आगे नहीं जा सकता, तीन कषाय के अभावरूप आंशिक वीतराग चारित्र में वर्तता है, वह मुनि छट्ठे गुणस्थान में आता है, उससमय केवल शुभराग का आलंबन नहीं है किंतु त्रिकाली शुद्धात्मस्वरूप का आंशिक आलंबन वर्तता है। स्वरूपाचरण में विशेष उग्र आलंबन नहीं है, वहाँ आंशिक इस जात का राग होता है लेकिन वह पुण्य है, धर्म नहीं है। ऐसा निर्णय प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहिले भी होना चाहिये।

प्रथम से ही पराश्रय की दृष्टि छोड़कर अनादि-अनंत एकरूप ज्ञायक मात्र का अभेद अनुभव होवे, उसको निर्विकल्प सम्यग्दर्शन कहने में आता है, वह प्राथमिक धर्म है।

निश्चय सम्यग्दर्शन के बाद जो चारित्र में विशेष शुद्धि के लिये शुद्धस्वरूप के आलंबन में वर्तते हैं, उनको हेयबुद्धि से राग आता है, वहाँ अशुभ से बचने के लिये बीच में शुभराग-व्यवहाररत्नत्रय होता है, उसको भी शुद्धि के संस्कार आरोपित करनेवाला-निमित्त अर्थात् उपकारी व्यवहार से कहा जाता है। किंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि—

(१) प्रथम व्यवहार बाद में निश्चय,

(२) व्यवहार (पराश्रयरूप राग) करते-करते निश्चय धर्म होगा, अथवा

(३) वह वास्तव में मोक्षमार्ग या मोक्षमार्ग का सच्चा साधन होगा।

किंतु व्यवहारनय के कथन की यह पद्धति है कि वीतरागतादि ऐसे कार्य होवे, वहाँ कैसा निमित्त होता है, वह बताने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन करे किंतु कार्य तो कभी भी निमित्त की मुख्यता से नहीं होता किंतु उपादान की मुख्यता से ही होता है।

द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ में काह है कि निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षहेतु आत्मा में एकाग्रतारूपी ध्यान द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। प्रथम व्यवहार तथा उसके द्वारा निश्चय धर्म होता है,

ऐसा कहीं पर भी नहीं कहा है। व्यवहार अर्थात् पराश्रय, शुभराग आदि उसके द्वारा सच्चा धर्म होता हो तो पूर्व में अनंतबार ऐसा किया है, क्यों धर्म न हुआ ?

निर्विकल्प अनुभव किसको कहा ? वह जाने बिना ध्यान कैसे होगा ? प्रथम विपरीत अभिप्राय छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी मैं पूर्ण हूँ, इसका निर्णय करके रागादि का आदर–आश्रय छोड़कर, राग से आंशिक भिन्न हो, अखंड ज्ञानस्वरूप में एकाग्र होने से, अरहंत–सिद्ध भगवान का भी स्मरण भूल जाये, भेद का लक्ष्य न रहे, ऐसे निर्विकल्प अनुभवसहित असंग ज्ञानानंदमय मैं आत्मा हूँ, ऐसा भान होता है। पश्चात् उसमें विशेष अभ्यास और स्वरूप के आलंबन के बल से अरागी आचरण होना, वह मोक्षमाग है, वह अभेद साधन है। इसप्रकार आंशिक वीतरागता है, वहाँ अशुभ से बचने के लिये जो शुभराग आता है, उसको भेद साधन–उपचार साधन कहते हैं। वास्तव में तो उस काल में ऐसा अशुभराग नहीं होता; इसलिये उस काल में ऐसा शुभराग आता है; आता है, उसको करता है–ऐसा भी कहा जाता है, क्योंकि उस जाति के परिणाम का कर्ता वह जीव है।

'उपादान निश्चय जहँ, तहँ निमित्त पर होय' उसप्रकार जहाँ आंशिक शुद्धपरिणति है, वहाँ इसकी भूमिका के योग्य ऐसा राग होता है, ऐसा जानना, उसका नाम व्यवहारनय का प्रयोजन है। मुनिदशा में एकाकार स्वस्वरूप में इतनी उग्रता के बल से एकाग्र होता है, वही मोक्षमार्ग है तथा इसीप्रकार से विशेष एकाग्र होवे, वही शुद्धि की वृद्धि में कारण है; वहाँ साथ में रहे हुए शुभभाव को भी कारण कहना, वह असद्भूतव्यवहार से उपचार कारण है।

जैसे पूर्ण चंद्र होने के लिये दूज का उदय हुआ, वह चंद्र का विकसित अभेद अंश है। इसप्रकार भगवान आत्मा चिदानंद अनंत गुणों का धाम चैतन्यस्वामी को लक्ष्य में लेकर, अंतर में एकमेकरूप से एकाग्र होकर, जितनी शुद्धपरिणतिरूप स्वरूपाचरण करते हैं, वह निश्चय साधन, अभेद साधन है और वहाँ शुभराग को सहचर–शुद्धि की वृद्धि का कारण कहना, वह व्यवहारनय का आरोपित कथन है। अज्ञानी के शुभराग में व्यवहार कारणपने का आरोप भी नहीं आता।

निश्चयमोक्षमार्ग में आत्मा के आश्रय से शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति की यह बात है। व्यवहार में उस दशा के योग्य शुभराग को निमित्त बताने की यह बात है; दोनों की जात भिन्न है। शुद्ध उपादान की दृष्टि सहित स्वाश्रयरूप वीतरागता होती है, वहाँ व्यवहार का कथन लागू पड़ता है। श्री समयसारजी गाथा ११ के भावार्थ में पंडित श्री जयचंद्रजी ने कहा है कि जिनवाणी में

व्यवहारनय को शुद्धनय का हस्तावलंबन जानकर अर्थात् शुद्धनय होता है, वहाँ उसे निमित्त जानकर उसका स्वरूप कैसा होता है, वह बताने के लिये व्यवहार का उपदेश बहुत किया है, तथापि उस सर्व व्यवहारनय के आश्रय का फल संसार ही है।

निश्चय के बिना अकेला व्यवहार होता ही नहीं। धर्म के नाम पर व्रत, तप करे, उसमें धर्म माने, उसको संवर व निर्जरा न होकर समय निरर्थक जाता है। हाँ, व्रत, उपवासादि में राग मंद करे तो पुण्य बंध होता है किंतु वह आस्रवतत्त्व है, बंध का कारण है। वैसा न मानकर उसे मोक्ष का कारण माने; धर्म नहीं है, तथापि उसमें धर्म माने तो मिथ्यात्व का महान पाप बाँधता है। बड़ी तीर्थयात्रा निकाले, वर्षीतप आदि में कषाय मंद करे तो पुण्य है, उसमें सब अज्ञानी धर्म मानते हैं और उसका उद्यापन करके अनुमोदना करे, वे दोनों मिथ्यात्वरूपी पाप की अनुमोदना करते हैं। सात व्यसनों के महा पाप से भी मिथ्यात्व का पाप अनंत गुना बड़ा है। मिथ्यात्व की प्रवृत्ति करना, कराना, अनुमोदन करना, वह पाप ही है। मैंने आहार छोड़ा, शुभराग से धर्म होता है, परद्रव्य की क्रिया से जीव को धर्म-अधर्म होता है-ऐसी मान्यतावाला जीव संयोग और राग में एकताबुद्धिवाला है।

जैनधर्म में तो ऐसी परंपरा है कि प्रथम बड़ा पाप छोड़े, पश्चात् छोटा पाप छूट सकता है। मिथ्यात्व ही बड़ा पाप है, उसकी उसे कीमत नहीं है; पराश्रय अर्थात् राग, पर की भक्ति का राग, शुभराग और निमित्त से लाभ मानने से पूरा चैतन्य खो जाता है। इसलिये मिथ्यात्व का पाप सात व्यसनों से अनंत गुना बड़ा कहा है। व्यवहार अर्थात् शुभराग की क्रिया करते-करते आत्मा में धर्म होना माने, वह मिथ्यात्व है। ज्ञानी को निचली भूमिका में राग होता है किंतु उससे लाभ नहीं मानता; इसलिये उसको व्यवहार कहा है।

निश्चयनय तथा व्यवहारनय के विषय में परस्पर विरुद्धता ही है। निश्चय तो जैसा है, उसीप्रकार कहता है और व्यवहारनय उससे अन्यथा कहता है; एक द्रव्य के कारण-कार्य को दूसरे का कहता है, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। इसलिये व्यवहारनय के कथन को, निश्चयनय के कथन के समान सत्यार्थ माने तो ऐसी श्रद्धा से तो मिथ्यात्व है। निश्चयनय-व्यवहारनय दोनों को समकक्ष माने, वह भी अज्ञानी है। व्यवहार कारण को वास्तविक कारण माने, वह अपने आत्मा का घात कर रहा है। संयोग और राग की रुचिवाला पराधीनता ही देखता है; उसको यह अंतर का मार्ग स्वतंत्रता का पंथ कठिन लगता है। अज्ञानी निश्चय का विरोध करता है। चैतन्यस्वभाव का आश्रय, चैतन्य में चैतन्य का मार्ग जुदी जात का है।

वीतराग मार्ग में आत्मा से उत्पन्न होनेवाली शांति, निराकुलता है। उसको पकड़ने की दृष्टि और संस्कार (अभ्यास) उस जाति का चाहिए। लहसुन खाने से कस्तूरी की डकार कैसे आयेगी ? इसप्रकार राग की मंदता में दया, दान, व्रतादि के शुभराग की क्रिया बरोबर होवे तो पुण्यबंध होगा किंतु वह करते–करते किसी का निर्विकार आत्मा जागृत होवे तथा उसकी शांति प्राप्त होवे, ऐसा कभी नहीं बनता। स्वाश्रित निश्चय, पराश्रित व्यवहार, दोनों को ज्ञानी जैसे हैं वैसे जानता है, तथापि दया, दान, व्रत, तप आदि का शुभराग आये बिना नहीं रहता; किंतु वह धर्म है अथवा उसके आधार से धर्म है, ऐसा धर्मी नहीं मानता। धर्मात्मा जीव को नीचली भूमिका में पूर्ण वीतरागता नहीं है, वहाँ व्यवहार के आलंबन से अशुभराग टलता है, उसमें सच्चा कारण अकषायी दृष्टि और वीतराग परिणति ही है, उसकी बात न करके शुभव्यवहार से अशुभ की निर्जरा होती है, अथवा वह शुद्धि का कारण है, ऐसा कहना वह व्यवहारनय की रीत अकषाय दृष्टिवान जीव को लागू पड़ती है।

छट्ठे गुणस्थान में क्या होता है, उस कथन को गौण करके राग की मंदता, वह भेदरूप व्यवहार साधन और सातवें गुणस्थान का शुद्धोपयोग, वह साध्य इस कथन को (भेदरूप विषय को) छोड़कर केवल अकेले आत्माश्रित दर्शन, ज्ञान, चारित्र का समाहितपना अर्थात् एकाकार अभेदपना वह मोक्षमार्ग का वास्तविक स्वरूप है। व्यवहारनय के विषयभूत भेद साध्य–साधन वह उसका सच्चा स्वरूप नहीं है।

'द्रव्य क्रिया रुचि जीवड़ा, भाव धर्म रुचि हीन,
उपदेशक पण तेहवा, शुं करे जीव नवीन।'

कुए में जैसा जल होगा, वैसा बालटी में आयेगा। संयोग और शुभराग से धर्म माननेवाले असंग अविकारी ज्ञातास्वभाव का तिरस्कार करते हैं। जानना, मानना इसमें क्या है ? ऐसी क्रिया करो, दया, दान, व्रत, तप, पुण्य करो; इसप्रकार शुभराग करेंगे तो धीरे–धीरे निश्चय धर्म में जा सकेंगे, यह विपरीत मान्यता है।

धर्मी जीव की बाह्य में शुभक्रिया में प्रवृत्ति देखी जाती है, लेकिन उसमें वे धर्म नहीं मानते, पुण्य मानते हैं, हेय जानते हैं। जब तक अपनी प्रभुत्वशक्ति का उग्ररूप से स्वरूप में प्रवृत्ति–उग्रता से एकाग्रता नहीं थी, वहाँ व्यवहारनय के विषयभूत भिन्न साधनरूप राग था। प्रत्येक ज्ञानी जीव इस जाति के राग को छोड़कर, पूर्ण शुद्धस्वरूप का अवलंबन करके अंतर में एकाकार होता है। राग छोड़ना नहीं पड़ता किंतु प्रकाश करे, उतना अंधकार टलता ही है, उत्पन्न ही नहीं होता। उसप्रकार

आत्मज्ञानपूर्वक स्वरूप में जितना सावधान रहता है, एकाग्र होते जाता है, उतना राग का त्याग हो जाता है, उत्पन्न ही नहीं होता। इस रीति से साधक जीव निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों को अभेद करता हुआ समाहित आचारवंत कहा जाता है अर्थात् थोड़ी एकाग्रता थी, पश्चात् स्वरूप में विशेष एकाग्रता करे, उसका नाम वीतरागी चारित्र का समाहितपना जिसका रूप कहा जाता है।

भगवान आत्मा के सन्मुख दृष्टि होने पर भी नीचे की दशा में चारित्र की कमजोरी से जितना राग वर्तता है, वह आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र का समाहित रूप नहीं है किंतु उससे विरुद्ध है, उपाधि है। व्यवहाररत्नत्रय के शुभभाव निश्चय से विरुद्ध है—जल में सेवाल के समान, चैतन्य की अवस्था में जागृति को रोकनेवाली विकृति है।

जैसे पानी के ऊपर सेवाल का भाग होने पर भी उसको हटाकर मीठे स्वच्छ जल का पान करते हैं। उसप्रकार भेदविज्ञानी जीव, राग के अंश को गौण करके, चैतन्य के अभेद स्वभाव में ढलकर, राग के अंश से रहित निर्विकल्प अभेद अनुभव में वर्तता है, वह उसका समाहितरूप है—धर्म है।

जितने अंश में स्वरूप में एकाग्रता है, उतना मोक्षमार्ग है। वह समस्त व्यवहार क्रियाकाण्ड के आडंबर से दूर और अंतरंग में एकरूप चैतन्य में नजदीक है। मुनिदशा में २८ मूलगुण-महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, भगवान की भक्ति का राग आता है, वह भी आडंबर है। शुभभाव की समस्त क्रिया को निश्चयमोक्षमार्ग आडंबर ही गिनता है, क्योंकि वह आत्मा का समाहितरूप नहीं है।

योगेन्द्रदेव कृत योगसार दोहे में कहा है कि:—

'पापरूप को पाप तो जाने जग सब कोई,
पुण्य तत्त्व भी पाप है-कहे अनुभवी बुध कोई।'

श्री समयसार में पुण्य-पाप अधिकार के अंत में श्री जयसेनाचार्यदेव ने संस्कृत टीका में कहा है कि पुण्यरूप व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयनय से परमार्थ से पापमार्ग है, कारण कि उसके आश्रय का फल संसार है।

राग के समय धर्मी को भी व्रत, तप, विनय, भक्ति आदि का शुभराग आये बिना नहीं रहता। अभेद वीतरागी चारित्र होने के पहिले प्राथमिक दशा में वैसा शुभराग आता है। पश्चात् शुद्धात्मद्रव्य के बल द्वारा इस जात के राग को छोड़कर वीतराग होता है। कोई कहे कि मोक्षमार्गी

को चाहे वैसा भेष, चाहे जैसा व्यवहार होवे—किंतु ऐसा नहीं है, लेकिन योग्य व्यवहार ही निमित्तरूप से होता है।

अंतर्मुख दृष्टि, ज्ञान और उसमें लीनता द्वारा, अंतर में अभेद एकाकार होते जाता है, वहाँ भगवान की आज्ञा के विकल्प भी टलते जाते हैं, इसलिये समस्त व्यवहार, निश्चय से अभूतार्थ है; इसलिये उसका आश्रय छोड़कर, एकरूप निर्विकार स्वभाव का अनुभव करना, वह भूतार्थ है।

व्यवहारनय है अवश्य, किंतु वह अभूतार्थदर्शी होने से प्रथम श्रद्धा में उसका आश्रय छोड़कर, शुभराग से लाभ होगा, यह मान्यता छोड़कर, भूतार्थ एकरूप स्वभाव का आश्रय करके, निश्चय का अनुभव हुआ कि अहो! पूर्ण ज्ञानघन केवलज्ञान वह मैं—इसमें श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ है। केवलज्ञानी सर्वज्ञ स्वभाव की प्रतीति, वह धर्म है। जब अभेद स्वरूप में स्थिर हुआ, तब विकल्प टलकर, विकल्प के अनुभव से छूटकर निस्तरंग एकाकार शुद्ध चैतन्यरूप हुआ, विश्राम मिला।

'वस्तु विचारत ध्यावतैं मन पावे विश्राम,
रस स्वादत सुख ऊपजै अनुभव याको नाम।'

स्वसन्मुख होकर स्थिर होने के पहिले पूर्वापर विरोधरहित निर्णय करना चाहिये। गुणस्थानानुसार जैसी स्थिति होती है, उसका निर्णय न करे तो चित्त का प्रसार संकल्प-विकल्प से चंचल होता ही रहेगा।

अनेकांत का मार्ग वीतरागता है, कोई कहेगा कि प्रत्येक में भी लगाओ तो अनेकांत सच्चा। उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि किसी को शुभराग से, व्यवहार से (पराश्रय से) धर्म होगा और किसी को वीतरागभाव से भी धर्म होगा अथवा राग और रागरहित भाव दोनों द्वारा भी धर्म होगा—ऐसा मानना, वह तो मिथ्या अनेकांत है। परंतु तीनों काल में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और वीतरागता से ही धर्म होता है, राग से धर्म (संवर-निर्जरा) होता ही नहीं, इसका नाम सम्यक् अनेकांत है। यदि ऐसा निश्चित न माने उसको संशयवाद है, खिचड़ीवाद है।

अशुभराग और शुभराग ज्ञानी को भूमिकानुसार होता है, लेकिन उसको करने योग्य नहीं मानता, उसका स्वामी नहीं बनता, यह होवे तो हरकत नहीं है, ऐसा नहीं मानता; क्योंकि शुभराग में आकुलता है, अशुभराग में तीव्र आकुलता है, और उनसे लाभ माने, धर्म माने, वह मूल में भूल है—बड़ी आकुलता है।

कितने ही लोग कहते हैं कि बाल जीवों को प्रथम पुण्य करने का कहो, पाप से बचे तो पुण्य करते-करते आगे बढ़ा जायेगा। लेकिन मिथ्यात्व, वह बड़ा पाप है, उससे कैसे बचना, उसकी उपदेशक को भी खबर नहीं है, और पुण्य की (संसार की) रुचि में मनुष्य भव चला जायेगा।

सराणीया छुरी घिसता है और देखता रहता है कि कितना जंग शेष रहा है, कितना निकल गया और छुरी कितनी उज्जवल हुई—वह निश्चित करता है, उसमें संदेह नहीं रहने देता, उसप्रकार भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानानंदरूप है तथा उसकी वर्तमान अवस्था में आंशिक रूप में रागादि है, स्वाश्रय के बल से कितना राग टला? कितना बाकी रहा और सब प्रकार का राग हेय है, ऐसा नि:शंकरूप से जाने, वह ज्ञानी है। लेकिन निश्चय स्वभाव यह है, शुद्धता-अशुद्धता यह है, ऐसा हित-अहित का स्वरूप जाने बिना अकेले व्यवहार में मग्न रहे तो वह राग की रुचि है। यह बात ऊँची दशा की नहीं किंतु प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने की निर्णय की भूमिका क्या है, वह निश्चित कराते हैं।

प्रथम से ही तत्त्व-अतत्त्व, हित-अहित का निर्णय करके, आत्मा नित्य अखंडानंद ज्ञानस्वभावी है, उसकी दृष्टि कर, पश्चात् वर्तमान दशा में व्यवहार क्रियाकांड का रूप इसप्रकार होता है, ऐसा जानने में आयेगा किंतु उसमें धर्म है, ऐसा नहीं भासेगा। विशेष पुरुषार्थ द्वारा तीन कषाय के अभावरूप वीतरागी चारित्र में स्थिर आरुढ़ होने से सप्तम गुणस्थान आता है, वही अपने आत्मा को निश्चयनय से भिन्न साध्य-साधन के अभाव से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का समाहितपना (अभेदपना) जिसका रूप है, वह समस्त क्रियाकांड के आडंबर के अभावरूप होने से जो निस्तरंग परम चैतन्यशाली है।

स्वयं समस्वभावी चैतन्य सूर्य है। उसमें विशेष एकाग्र हुआ, वह सुमार्गशाली है।

पुण्यवंत को संसार में भाग्यशाली कहते हैं, वह तो क्षणभर में नष्ट हो जाता है। यहाँ धर्मी को चारित्र की भूमिका में जिस जात का शुभराग आता था, उसमें प्रमाद का हिस्सा होने से, उस समय तक वह परम चैतन्यशाली नहीं था; क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग का आलंबन, वह आकुलता थी। उस विकल्प को तोड़कर निर्विकल्प स्वरूप में आता है, तब व्यवहार संबंधी वृत्ति टूटकर उसके स्थान में निश्चयरत्नत्रय का समाहितपना प्रगट किया, जिससे जिसके बल द्वारा यह आत्मा निस्तरंग निर्विकल्प परम चैतन्यशाली है, तथा जो अपने से परिपूर्ण आनन्द से समृद्ध ऐसे भगवान आत्मा में विश्रांति द्वारा अपने को स्थिर करते हुए, क्रम से समरसी भाव समुत्पन्न होता जाने से, जिसके फल में स्वयं परम वीतरागभाव को प्राप्त करके साक्षात् मोक्ष का अनुभव करता है।

जिसप्रकार फूल पूर्व अवस्था में कलीरूप था, वह हजार पांखुड़ी से खिले; उसप्रकार भगवान आत्मा प्रथम अपूर्व श्रद्धा से खिला, पश्चात् वीतरागी चारित्र के विकास द्वारा चारित्र में पूर्ण खिलवट होने पर अपूर्णता टलकर पूर्ण दशा प्रगट होना, वह मोक्ष है।

यहाँ परम चैतन्यशाली सातवें गुणस्थान से कहना चाहते हैं। छट्ठे गुणस्थान में पाँच महाव्रतादि का शुभराग था, वह चैतन्य की ऋद्धि नहीं थी। सातवें गुणस्थान में अबुद्धिपूर्वक का सूक्ष्म राग होता है किंतु अनुभव में आकुलता टलकर, स्वरूप में विश्रांति रचता जाता है, पूर्व में महाव्रतादि का राग था, वह विश्रांति का अंश नहीं था; इसलिये उसके अभावरूप भाव को सच्चा चारित्र कहा जाता है।

पूर्व अनंत काल में यह बात सुनी नहीं। जिस स्वरूप को समझे बिना, अनंत काल से दुःख के उपाय को सुख का उपाय मानकर दुःखी हो रहा है, उसका विचार करे, तब मुश्किल से सत्य की जिज्ञासा के कारण श्रवण करने के लायक होता है, उसका ज्ञानी के पास से श्रवण, ग्रहण और उसकी धारणा चाहिये, उसके लिये तत्त्वज्ञान की तीव्र रुचि, सत्समागम, पात्रतापूर्वक अभ्यास और यही सच्चा मोक्षमार्ग है—इसका यथार्थ निर्णय करना चाहिये; उन सबमें अपना आत्मा कारण है, बाह्य में कहीं भी आत्मशांति के लिये ठहरने का स्थान नहीं है।

शास्त्रकर्ता आचार्यदेव नग्न निर्ग्रंथ मुनि जंगल में रहते थे, शास्त्र लिखा गया, उस संबंधी शुभराग था, तब भी वे राग में नहीं वर्तते थे, किंतु अतीन्द्रिय ज्ञानमय आत्मा में विश्राम लेते थे। शुभराग में थकान लगी है।

यहाँ विकल्प टालकर, पूर्ण अभेद हो गये, उनकी बात नहीं है, किंतु व्यवहाररत्नत्रय, जिसको व्यवहार से साधन कहा था, उसकी थकान थी, उससे छूटकर अंतर में स्थिरता द्वारा अपने पुरुषार्थ से स्वरूप में शांति—विश्रांति रचते हैं, उनकी बात है। पुण्य से, व्यवहाररत्नत्रय के राग द्वारा स्वरूप में शांति की रचना होवे, ऐसा नहीं है।

छट्ठे गुणस्थान में ऐसे ही शुभभावों का निमित्तपना होता है, वह बताने के लिये व्यवहारनय कहता है कि यह साधन है, उपकारी है। निश्चयनय कहता है—ऐसा नहीं, किंतु अंतरंग में वीतरागतारूप कार्य वर्तता है, वहाँ ऐसा राग होता है; उससे विरुद्ध (—स्वच्छंदी भूमिका का) राग नहीं होता। ऐसा निमित्त बताने के लिये उपचार से साधन कहा है।

प्रथम से लेकर, पूर्णानंद की प्राप्ति की बात यहाँ की है। ●●

उत्तम क्षमाधर्म

तथा स्वतंत्रता से शोभायमान असंकुचित विकासत्व शक्ति ऊपर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन, भाद्रपद सुदी ५ सोनगढ़

उत्तम क्षमादि दस धर्म ये वीतरागभावरूप चारित्र आराधना के भेद हैं, जो निश्चय सम्यग्दर्शन सहित होते हैं।

श्री कार्तिकस्वामी नाम के महामुनि भावलिंगी संत थे। उन्होंने बारह अनुप्रेक्षा नाम का ग्रंथ लिखा है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित द्रव्यानुयोग की मुख्यतासहित करणानुयोग, प्रथमानुयोग और चरणानुयोग की पद्धति है।

इस ग्रंथ की गाथा ३९४ की टीका में इतना लिखा हुआ मिलता है कि 'स्वामी कार्तिकेयमुनि' क्रोंच राजाकृत उपसर्ग को जीतकर देवलोक को प्राप्त हुए' ये बालब्रह्मचारी आचार्यवर दो हजार वर्ष पहले हो गये, ऐसा भी कथन है।

अब प्रथम ही उत्तम क्षमा को धर्म कहते हैं।

कोहेण जो ण तप्पदि सुरणर तिरएहिं कीरमाणेवि।
उवसग्गे वि रउदे तस्स खिमा णिम्मला होदि॥३९४॥

अर्थ:—अर्थ—जो मुनि देव-मनुष्य-तिर्यंच (पशु) तथा अचेतन द्वारा रौद्र, भयानक, घोर उपसर्ग होने पर भी क्रोध से तप्त न होवे, उस मुनि के निर्मल क्षमा होती है।

अविनाशी ज्ञानानंदस्वरूप को ही अपना स्व अर्थात् धन माननेवाले सम्यग्दृष्टि और वीतरागी चारित्रवंत मुनि चाहे जैसे घोर उपसर्ग देखकर स्वरूप से च्युत नहीं होते।

कोई परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा कर्म का उदय मेरे लिये अनुकूल-प्रतिकूल नहीं है। सर्वज्ञ भगवान ने किसी के लिये कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्टकारी कभी भी देखा ही नहीं। जीव ज्ञातास्वरूप है, ज्ञेय पदार्थ जाननेयोग्य है। किसी भी काल में किसी पदार्थ में ऐसी छाप नहीं है कि किसी के लिये अनुकूल-प्रतिकूल हो सके। राग-द्वेष, सुख-दु:ख उत्पन्न करने की किसी परपदार्थ में योग्यता नहीं है परंतु अयोग्यता है। जीव ही अपने स्थिर ज्ञाता स्वरूप को भूलकर मोह से झूठा नाम पाड़ता है, वह अपनी भूल से ही दु:खी होता है। पर के कारण कुछ भी कार्य हुआ—ऐसा निमित्तकर्तापने का विकल्प, वह उपचार ही है, वास्तविक नहीं है।

ज्ञानी तो भेदविज्ञान के बल से जानता है कि मैं तो देहादिरूप कभी भी नहीं हूँ, मैं तो नित्य ज्ञाता साक्षी हूँ। परवस्तु लाभ-हानि करने में समर्थ नहीं है, वह तो ज्ञेय है। परवस्तु किसी को बाधक या साधक नहीं है—इसप्रकार वस्तुस्वभाव का ज्ञाता रहकर नित्य ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा में सावधान रहता है।

मैं पर का कुछ कर सकता हूँ तथा परवस्तु मेरा इष्ट-अनिष्ट कर सकती है, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादर्शन ही सबसे बड़ा पाप है। सम्यग्दृष्टि तो शुभाशुभराग को भी परज्ञेयरूप से जानता है। उसमें शुभभाव अच्छा और अशुभराग बुरा, ऐसा भेद नहीं देखता है। संसार अपेक्षा से, पाप अपेक्षा से, पुण्य को ठीक कहा जाता है, किंतु मोक्षमार्ग की अपेक्षा से दोनों को बाधक और अहितकर मानने में आया है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता है। मात्र एक आकाश क्षेत्र में, संयोग-वियोगरूप अवस्था बदलती है। शरीर को छुरी लग जाये, अग्नि लग जाये, कांटा लगे, मस्तक काटनेवाला मिल जाये तो भी स्वसन्मुख ज्ञातापने की बेहद धीरतारूपी स्वाभाविक क्षमा ज्ञानी को होती है। 'जो-जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे' शरीर को चोट लगे, कैसा भी प्रतिकूलता का भास हो किंतु अरे! ऐसा क्यों!—ऐसा मन में विकल्प भी न उठे, ज्ञाता के विरुद्ध कर्तृत्व का कोई विकल्प न उठे। लेकिन इस काल में ऐसा ही होना था, मेरे ज्ञान की स्वच्छता का काल ही ऐसा है कि स्व-पर प्रकाशक ज्ञान और सामने ज्ञेय ऐसा ही हो, ऐसी नित्य ज्ञातास्वभाव से समता रखे, उसका नाम उत्तम क्षमा है।

क्रोध के कारण मिलने पर भी इसप्रकार भेदविज्ञान के बल से क्रोध की उत्पत्ति नहीं होवे। भय, आशा, स्नेह तथा लोभादि के कारण क्षमा रखे, वह क्षमा नहीं है, और सम्यग्दृष्टि को क्षमा के शुभ विकल्प रहते हैं, वह व्यवहार क्षमा है; साथ में स्वद्रव्य के आश्रयभूत शांति, जागृति रहे, वह निश्चय क्षमा है।

चाहे जैसे प्रतिकूल-अनुकूल पदार्थ मिले तो भी मुझे तो कोई मिलता ही नहीं है, मैं पराश्रयरहित ज्ञाता ही हूँ, नित्य पर से भिन्न साक्षी हूँ, मेरे अनंत गुणों से परिपूर्ण हूँ—ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् स्वरूप में बहुत सावधानी है, उसके उत्तम क्षमा है। अपने अमर्यादित अकषायी स्वभाव में सावधान रहने से क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होना, उसका नाम वास्तविक क्षमा है। सम्यग्दर्शन भी मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय की अनुत्पत्तिरूप क्षमा है। भूमिकानुसार सहन करने का

शुभभाव आता है। वहाँ आंशिक स्वाश्रय, वीतरागता, वह निश्चय क्षमा और शुभराग, वह व्यवहार क्षमा है।

तत्त्वार्थसूत्र अर्थात् मोक्षशास्त्र में कथन आता है कि प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में दस-दस महामुनि घोर उपसर्ग सहन करके, परीषह जीतकर, अंत में समाधिमरण से प्राणों का त्याग करके स्वर्ग-विमानों में उत्पन्न हुये।

यहाँ स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा गाथा ३९४ की टीका में वर्णन है कि—(१) श्री दत्तमुनि व्यंतरकृत उपसर्ग जीतकर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष गये, तथा (२) चिलाती पुत्र मुनि व्यंतरकृत उपसर्ग जीतकर सर्वार्थसिद्धि में गये, (३) स्वामी कार्तिकेय मुनि क्रोंच राजाकृत उपसर्ग जीतकर देवलोक गये, (४) गुरुदत्त मुनि कपिल ब्राह्मणकृत उपसर्ग जीतकर, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष गये, (५) श्री धन्यमुनि चक्रराजकृत उपसर्ग को जीतकर, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष गये, (६) पाँच सौ मुनि दंडक राजाकृत उपसर्ग को जीतकर सिद्धि को (मोक्ष को) प्राप्त हुये, (७) राजकुमार मुनि पांशुल श्रेष्ठीकृत उपसर्ग को जीतकर सिद्धि को प्राप्त हुये, (८) चाणक्यादि पाँच सौ मुनि मंत्रीकृत उपसर्ग को जीतकर मोक्ष गये, (९) सुकुमाल मुनि शियालकृत उपसर्ग को जीतकर देव हुए, (१०) श्रेष्ठी के बाईस पुत्र नदी के प्रवाह में पद्मासन से शुभध्यान करके देव हुए, (११) सुकौशलमुनि शेरनीकृत उपसर्ग को जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये, (१२) श्री पाणिकमुनि जल का उपसर्ग सहकर मुक्त हुए। ऐसे देव, मनुष्य, पशु और अचेतनकृत उपसर्ग सहन करने पर भी देह में—रागादि में जरा भी एकताबुद्धि नहीं किया और क्रोध नहीं किया, उनके उत्तम क्षमा हुई; इसप्रकार उपसर्ग करनेवाले पर भी क्रोध उत्पन्न नहीं होवे, ऐसा आत्मा आत्मभावना में बलवान रहे।

भेदज्ञान द्वारा ऐसा चिंतवन करते कि जो कोई मेरा दोष कहते हैं—तो जो दोष मुझमें है तो क्या वह असत्य कहता है। ऐसा विचारकर समभाव रखे और जो मुझमें दोष नहीं है तो जाने बिना अज्ञानवश कहे, वहाँ अज्ञान के ऊपर कोप कहाँ करना? वचन शब्दरूप भाषावर्गणा है, उसका कर्ता कोई जीव नहीं है। क्रोध करनेवाला जीव उसकी कषायरूप पीड़ा का समाधान करता है, मेरा कुछ भी नहीं कर सकता है। **मैं तो ज्ञाता ही हूँ। इसप्रकार ज्ञानानंदस्वभाव में सावधानी के बल से** क्रोध का उत्पन्न नहीं होना, उस क्षमा को भगवान ने वास्तविक क्षमा कही है।

समयसारजी में ४७ शक्तियों में से १३वीं शक्ति का वर्णन चलता है।

क्षेत्र-काल में अमर्यादित ऐसी चिद्विलासस्वरूप असंकुचित-विकासत्वशक्ति आत्मा में

है। इस गुण में भी अनंत गुणों का रूप है; ऐसे अनंत गुणों का पिंड ज्ञानमात्र निज में दृष्टि देने से प्रगट पर्याय में अखंडित प्रतापवंत असंकुचितत्व चैतन्य विकास का विलास उछलता है। सम्यग्दर्शन अलौकिक, अद्भुत, अपूर्व शक्ति है। उसके साथ यह १३वीं शक्ति ऐसा बताती है कि तुझे कोई लाभ–नुकसान नहीं पहुँचा सकता, क्योंकि ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं, किंतु कोई क्षेत्र, काल, कर्म विकार से तेरा विकास नहीं रुकता है, तथा ध्रुवस्वभाव के सामर्थ्य के आश्रय से विकास होवे, ऐसा गुण इस शक्ति में है। ऐसा अनंत गुणसहित स्वतंत्रता से शोभायमान नित्य सामर्थ्यरूप से ध्रुव रहकर बदलना तुझसे है, तेरे आधार से है, पर से नहीं है; इसलिये परवस्तु किसी को या इस आत्मा को बाधक–साधक नहीं हो सकती, ऐसा जानना उसका नाम सच्चा अनेकांत है।

१३वीं शक्ति का वर्णन डेढ़ लाइन में संक्षेप में बहुत कह दिया है, जैसे एक बड़े व्यापारी ने खुले पोस्टकार्ड में उसके आड़तिया को लिखा कि अभी रुई का भाव एक खंडी का ५००) रुपये है, लेकिन ५४०) रुपये तक २ लाख गाँठ खरीदना, देखो डेढ़ लाइन में कितने गूढ़ अर्थ का विस्तार भरा है। वह पोस्टमेन पढ़े तो नहीं समझेगा; किंतु कोई चतुर व्यापारी तर्क से समझ जायेगा कि अहो! छोटी सी जगह में दुकान होने पर भी दोनों पक्षवालों की महान प्रतिष्ठा, परस्पर विश्वास तथा निर्भयता कैसी है? इसके अलावा खुले पत्र में ऐसा लिखान नहीं हो सकता; उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान की समयसारजी में एक–एक शक्ति की खुली चिट्ठी आयी है, वह सम्यग्दृष्टि साहूकार के ऊपर लिखी हुई है। लिखनेवाले सर्वज्ञ वीतराग देवाधिदेव हैं। अधर से लिखी हुई तथा मोफतलाल की सही, ऐसा नहीं है।

अहो! तुझमें ऐसी शक्ति अर्थात् नित्य सत्तात्मक अनंत गुण हैं। उस शक्तिवान द्रव्य के ऊपर दृष्टि देवे तो भेद और पराश्रय की दृष्टि छूटकर, विकार की उपेक्षा होकर, आत्मा में अमर्यादित विकास शक्ति का कार्य द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों में व्यापता है; साथ में ही प्रत्येक गुण का विकास बाधारहित आत्मा के सन्मुख होकर वर्तता है, उसके प्रताप को कोई क्षेत्र, काल, कर्म या संयोग विघ्न करने में समर्थ नहीं है, ऐसा चिद्विलास शक्ति मुझमें है। ऐसा जानकर पूर्ण स्वभावी चैतन्य के सन्मुख होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

दर्शनमोहकर्म का उदय आवे तो मिथ्यात्व होगा; अरे चल रे चल, तूं होने पर भी तुझे कौन मार सकता है, पर द्वारा पराधीनपना बतावे, उस बात को ज्ञाता नहीं मानता है। पर्याय में संकोचरूप अपनी क्षणिक योग्यता है, उसको द्रव्यदृष्टि के विषय द्वारा जीव का परिणमन नहीं मानते हैं।

जिस भाव से तेरी पर्याय में संकोच होवे और विकास न होवे, ऐसा कोई गुण तुझमें नहीं है—ऐसा जानकर क्षणिक विभाव का आलंबन छोड़ और मैं निर्मल शक्तियों का पिंड त्रैकालिक पूर्ण स्वभाववान हूँ, उसका आलंबन कर तो अपूर्णता नहीं रहेगी।

अहो! यह बात कभी नहीं सुनी ?

आजकल धर्म के नाम पर बहुत फेरफार दिखाई देता है। पुण्य से और पर से धर्म माना जाता है। अनादिकाल से जीव जो मानता आ रहा है, उससे आत्मधर्म की बात पृथक् है। सत्य बात तो जैसी है, वैसी कहना पड़ती है और उसे मानने से ही उद्धार है। सत्य को हलका-सस्ता करके (विपरीत) नहीं रखा जाता। कोई ऐसा कहे कि यह तो बहुत उच्च प्रकार की बात है! तो ऐसा नहीं है, क्योंकि यह तो धर्म की इकाई है।

पुण्य-पाप मेरे, शुभभाव करने से धीरे-धीरे धर्म होगा—ऐसी विषैली मान्यता का अर्थात् राग-द्वेष अज्ञानभाव का वीतराग के निर्दोष वचन विरेचन करा देते हैं। मोक्षार्थी को किसी भी बंधनभाव का आदर नहीं होना चाहिये।

आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विरुद्धभाव को कोई धर्म कहे तो वह विकथा है। सत्य बात अज्ञानी को कठिन मालूम होती है क्योंकि पहले कभी नहीं सुनी है, तथा कदाग्रही को विरोधरूप भी मालूम होती है; किंतु सरल और जिज्ञासु जीव तो अपनी शुद्धता की बात सुनकर हर्ष से नाच उठता है, और कहता है कि अहो! ऐसी बात मैंने कभी भी नहीं सुनी!

धर्म के लिये आत्मा को पुण्यादि पराश्रय की कभी आवश्यकता प्रारम्भ में भी नहीं है। यथार्थ समझ के बिना व्रत, तप आदि से पुण्य बाँधकर जीव नवमें ग्रैवेयक तक गया; तथापि स्वतंत्र आत्मस्वभाव को नहीं जाना, इसलिये उसका भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

(—समयसार-प्रवचन से)

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नंबर ४ गतांक से चालू

(अकालमृत्यु जो उदीरणामरण अर्थात् सोपक्रम आयु का अंत अपने स्वकाल में ही होता है, अपने निश्चित काल से आगे-पीछे नहीं होता, काललब्धि, पुरुषार्थ आदि पंच समवाय, ज्ञेय-ज्ञान का स्वरूप, नियत-अनियत के अर्थ, जैनाचार्यों की प्रमाणिकता-अविरुद्धता आदि विषय में—हमारे माननीय-आदरणीय श्री रामजीभाई ने अति स्पष्टरूप में वर्णन लिख दिया है, जिनमें अपूर्व तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा होगी, वे मध्यस्थता और धैर्य से इस लेखमाला को पढ़कर सच्चे समाधान को प्राप्त करेंगे।) [सम्पादक]

१७२—दूसरी भूल

(१) शिष्य ने वार्तिक नम्बर ७ की टीका में भव्य के काललब्धि का आधार दिया है, किंतु शिष्य काललब्धि का सच्चा आशय नहीं जानता; वह बताने के लिये आचार्य, ८वें वार्तिक में कहते हैं कि काललब्धि है, वह कोई मोक्ष का उपाय नहीं है; मोक्ष का उपाय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही है। आत्मज्ञान और अनंतानुबंधी कषाय के अभाव हुए बिना अकेला सम्यग्दर्शन किसी जीव को होता नहीं।

(२) अधिगमज सम्यग्दर्शन अकेला, अर्थात् ज्ञान-चारित्र रहित हो-ऐसा नहीं है, उस बात का शिष्य को यथार्थ ज्ञान न होने से आचार्य ने अधिगम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाया है। उसमें कहा है कि अधिगम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में प्रथम उपदेशदाता विधि उपायज्ञ, अर्थात् विधिपूर्वक उपाय को जाननेवाले ज्ञानी पुरुष के मिलाप से जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जानने की अपेक्षा बतलाई है। (अत: देशनालब्धि में निमित्त मिथ्यादृष्टि नहीं होता – ऐसा स्पष्ट नियम बताया है) और काललब्धि को उपाय मानना भूल है।

विशेष स्पष्टीकरण

(३) वार्तिक ८-९ का अर्थ ऐसा है कि मोक्ष प्राप्त करनेवाले सब जीवों का काल निश्चित है और न जानेवालों को कभी मोक्ष नहीं होगा, यह बात भी निश्चित ही है। इसलिये सब भव्यों का

मोक्ष नहीं होने से सभी भव्यों के निर्जरा के काल के लिये अनियम है, किंतु उपरोक्त नियम है ही है (अर्थात् जो-जो मोक्ष जायेंगे, उन्हीं को निर्जरा और मोक्ष का काल निश्चित ही है अनिश्चित-अव्यवस्थित नहीं है - ऐसा अनेकांतस्वरूप कहा।) (भूल का वर्णन समाप्त)

१७३—वस्तुस्वरूप की मर्यादा

(१) जो-जो जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, उन सबका मोक्ष, अर्थात् सर्व कर्म-निर्जरा का काल अनिश्चित है—अनियत है—ऐसी मान्यता सर्वथा असत्य है।

(२) श्री जयसेनाचार्यकृत श्री प्रवचनसार की टीका अध्याय २, गाथा ५२, पृष्ठ २०५-६ में कहा है कि—

'अत्र अतीत अनंतकाले ये केचन सिद्धसुखभाजनं जाता, भाविकालं आत्मोपादानसिद्धं स्वयंअतिशयवदित्यादिविशेषण विशिष्ट सिद्ध सुखस्य भाजनम् भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव।'

यहाँ 'काललब्धि के वश से ही'—यह शब्द प्रत्येक पर्याय का क्रमनियमित (स्वकाल) को ही सूचित करता है, तथापि वहाँ भी '**तत्र निज परमात्मोपादेयरुचिरूपं वीतराग चारित्राविनाभूतं यन्निश्चय सम्यक्त्वं तस्यैव मुख्यं, न च कालस्य, तन स हेय इति।**' काललब्धि का नियम होने के साथ यहाँ कहते हैं कि 'तथापि वहाँ भी निज परमात्मतत्त्व में उपादेयरुचिरूप वीतरागचारित्र से अविनाभूत जो निश्चय सम्यक्त्व, उसकी ही मुख्यता है; काल की नहीं, अत: काल तो हेय है'—ऐसा जानना।

(३) स्वकाल, अर्थात् काललब्धि तो जाननेयोग्य है, आश्रय करनेयोग्य नहीं है, हेय है—ऐसा कहा है। कोई ऐसा माने कि स्वकाल और क्रमनियमित मानने से तो पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है तो यह उसका भ्रम है, क्योंकि उसको हेय मानकर निज परमात्मतत्त्व को उपादेय मानने से तो मिथ्या पुरुषार्थ खतम हो जाता है और सच्चा पुरुषार्थ प्रगट होता है।

(४) उसमें ५ समवाय, १—स्वभाव - 'उपादान सिद्धं', २—पुरुषार्थ निश्चय सम्यक्त्व आदि का बल, ३—स्वकाल। ४—नियति 'नियम'। ५—कर्म -आठ कर्म का अभाव (गर्भितरूप से)।

(५) मूलभूत सार:—सभी आचार्यों का और ज्ञानियों का मत एक ही प्रकार का-ऊपर कहे अनुसार ही है।

(६) श्री जयसेनाचार्य एक प्रकार कहें और इससे विरुद्ध श्री अकलंकदेव तत्त्वार्थ राजवार्तिक में कहें—ऐसा नहीं हो सकता।

(७) इसलिये श्री अकलंकदेव का कथन 'कालानियमात' का अर्थ श्री जयसेनाचार्य से विरुद्ध नहीं होना चाहिये; जो कोई इससे विपरीत अर्थ करे, वे अपने आत्मा की और श्री अकलंकदेव की अवज्ञा करते हैं—ऐसा समझना।

हेय-उपादेय

(८) यहाँ निज परमात्मा उपादेय, अर्थात् आश्रय करनेयोग्य और अन्य सब हेय हैं—ऐसा श्री जयसेनाचार्य कहते हैं।

(९) निश्चयसम्यग्दर्शन, मुख्य, अर्थात् प्रधान-उत्कृष्ट-उपादेय है और काल, गौण, अर्थात् हेय कहा है। मुख्य और गौण के अर्थ के लिये प्रवचनसार गाथा ५३ की जयसेनाचार्यकृत टीका देखना चाहिए।

काललब्धि के वश से ही

(१०) 'वश से' और 'ही' वे खास मुद्दे के शब्द हैं। 'काललब्धि के वश से' यह शब्द बतलाता है कि सब द्रव्यों की सब पर्यायें शुद्ध-अशुद्ध अपने-अपने स्वकाल के वश हैं और वे आगे-पीछे हो ही नहीं सकती। 'ही' शब्द यह बात दृढ़ करने के लिये कहा है; उत्पादरूप पर्याय अक्रम से कभी नहीं होती—ऐसा अस्ति और नास्तिरूप अनेकांत कहा है। 'काललब्धि वश से ही' यह कथन सम्यक् एकांत बताता है, अर्थात् सब पर्यायें (सब द्रव्य की) क्रमनियमित ही होती है, आगे-पीछे नहीं होती—ऐसा वस्तुस्वरूप है।

१७४—पद्मपुराण (भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित) २९वाँ पर्व श्लोक ८३

श्लोक

(१) **यत् प्राप्तव्यं यदां येन यत्र यावद्योऽपिवा।**
तत् प्राप्यते तदा तेन तत्र त्वान्ततो ध्रुवम्॥८३॥

अर्थः—सो ठीक ही है क्योंकि जिसकारण, जहाँ, जिससे, और जो जितना कार्य होना होता है; उससमय, वहाँ, उससे, और उतना ही कार्य प्राप्त होता है। इसमें संशय नहीं है॥८३॥

नोटः—मूल गाथा में (१) ध्रुव शब्द है, वह निश्चितता, नियमितता, नियतता, असंशयता, अनपवादता बताता है।

(२) यदा-तदा, काल की। (३) यत्र तत्र, क्षेत्र की। (४) यावत्-तावत्, कार्य की। (५) येन-तेन, जीव की। (६) यत्-तत्, जो वह। (७) प्राप्तव्य-प्राप्यते, प्राप्त होनेयोग्य प्राप्त करने की। (८) अपि-सर्व की ध्रुवता-अत्यंत निश्चितता बताता है। उसमें योग्यता स्वकाल-क्रमनियमितता आ गयी।

(२) पद्म० पु० ११०वाँ पर्व, श्लोक ४०

प्रागेवयदवाप्तव्यं येन तत्र यथा यतः ?
तत्परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तथा ततः ॥४०॥

अर्थः—जिसे, जहाँ, जिसप्रकार, जिसकारण से, जो वस्तु पहिले ही प्राप्त करनेयोग्य होती है; उसे, वहाँ, उसीप्रकार, उसीकारण से, वही वस्तु प्राप्त होती है ॥४०॥ पृष्ठ ३८४॥

नोट—(१) 'जहाँ' - क्षेत्र बताता है। (२) 'जिसप्रकार'—परिणाम या प्रकार बताते हैं। (३) 'जिसकारण' से—कारण (उपादान और निमित्त दो कारण) को बताते हैं। (४) 'प्राप्य करनेयोग्य वस्तु' योग्यता बताते हैं। (५) जिस जीव को ये पाँचों बातें अवश्य-निश्चितता बताती है—प्रत्येक पर्याय में निश्चितता है; अनिश्चितता है ही नहीं—ऐसा निःसंदेहता दर्शक अनेकांत समस्त लोक में सदा प्रवर्तता है—

(३) इन दो गाथाओं में कही हुई बातें निश्चित हैं—अलंघ्य हैं, अनिवार्य हैं, इन बातों का निर्णय करके, श्री प्रवचनसार की गाथा १९० से १९३ में कहे अनुसार—

(१) व्यवहारनय से उपजनित मोह को छोड़ना।

(२) व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहना।

(३) शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय द्वारा मोह को दूर करना।

(४) मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरा नहीं है—ऐसा स्व-पर का परस्पर स्व-स्वामी संबंध को त्याग देना।

(५) मैं एक शुद्ध ज्ञान ही हूँ—ऐसा निर्णय करके अनात्मा को छोड़ देना।

(६) आत्मा को ही आत्मरूप से ग्रहण करके परद्रव्य से व्यावृत होना (निमित्त परद्रव्य है, इससे व्यावृत होना।)

(७) आत्मारूपी एक अग्र में ही आत्मा को रोकना।

(८) ध्रुवत्त्व के लिये शुद्धात्मा ही उपलब्ध करनेयोग्य है — ऐसे सर्वज्ञ के उपदेश को ग्रहण करना।

(९) अध्रुव, ऐसे शरीरादि को (निमित्त को) जो उपलब्ध होने पर भी, उपलब्ध नहीं करना।

(१०) ध्रुव, ऐसे शुद्धात्मा को ही उपलब्ध करना—ऐसा आचार्यश्री का आशय जानना।

१७५—प्रत्येक द्रव्य की सब पर्याय—कर्म, निर्जरा-मोक्ष और अकाल-मरण भी निश्चित स्वकाल में ही होता है, आगे-पीछे नहीं।

[पद्मनन्दि पंचविंशतिका अनित्य पंचाशत, गाथा ७-९-१०-१८]

उदेति पाताय रविर्यथा तथा शरीरमेतन्ननु सर्व देहिनाम्।
स्वकालमासाद्य निजेऽपि संस्थिते करोति कः शोकमतः प्रबुद्धधीः॥७॥

अर्थः—जिसप्रकार सूर्य अस्त होने के लिए उदय होता है; उसीप्रकार यह शरीर भी, निश्चय से नाश होने के लिए ही उत्पन्न होता है; इसलिए **स्वकाल** के अनुसार अपने प्रिय स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर भी, हिताहित के जाननेवाले मनुष्य कदापि शोक नहीं करते॥७॥

दुर्लंघ्याद्‌भवितव्यता व्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे
यच्छोकः क्रियते तदत्र तमपि प्रारभ्यते नर्तनम्।
सर्वं नश्वर मेव वस्तु भुवने मत्त्वा महत्या धिया
निर्धूताखिल दुःख सन्ततिरहो धर्मः सदा सेव्यताम्॥९॥

अर्थः—दुर्निवार भवितव्यता से किसी प्रिय मनुष्य का मरण हो जाने पर, जो वहाँ शोक किया जाता है, वह अंधेरे में नृत्य आरम्भ करने के समान है। संसार में सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं—ऐसा उत्तम बुद्धि के द्वारा जानकर समस्त दुःखों के नष्ट करनेवाले धर्म का सदा आराधन करो॥९॥

[संस्कृत टीका पृष्ठ ९५, **दुर्निवार भवितव्यता स्वरूपात**]

पूर्वोपार्जित कर्मणा विलिखितं यस्यावसानं यदा
तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद् ध्रुवम्॥
शोकं मुञ्ज प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादरात्
सर्पे दूरमुपागते किमिपि भोस्तद् धृष्टि राहन्यते॥१०॥

अर्थः—पूर्व भव में संचित कर्म के द्वारा **जिस प्राणी का अंत जिस काल में लिख दिया गया है, उस प्राणी का अंत उसी काल में होता है—ऐसा भलीभाँति निश्चय करके, हे भव्य जीवों!** तुम अपने प्रिय भी स्त्री-पुत्र आदि के मरने पर शोक छोड़ दो तथा बड़े आदर से धर्म का

आराधन करो, क्योंकि सर्प के दूर चले जाने पर उसकी रेखा को पीटना व्यर्थ है ॥१० ॥

१८वाँ श्लोक

यैव स्वकर्म कृत कालकलात्र जन्तुः
तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्।
मूढ़ास्तथापि हि मृते स्व जने विधाय
शोकं परं प्रचुर दुःखभुजो भवन्ति॥१८॥

अर्थः—पूर्वोपार्जित **अपने कर्मों के द्वारा जो मरण का समय निश्चित हो गया है, उसी के अनुसार प्राणी मरता है, आगे-पीछे नहीं मरता।**—ऐसा जानकर भी आत्मीय मनुष्य के मरने पर अज्ञानीजन तो भी शोक करते हैं तथा नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं ॥१८ ॥

नोटः—(१) इस अधिकार में मनुष्यायु संबंधी कथन है, वह सोपक्रम और निरूपक्रम दोनों प्रकार की आयु को लागू पड़ता है।

(२) गाथा ७ में कहा है कि—सब प्रकार का मरण (सोपक्रम हो या निरुपक्रम हो), वह अपने स्वकाल में ही होता है; आगे-पीछे नहीं होता—ऐसा उसमें गर्भित रखा है।

(३) गाथा ९ में कहा है कि जिसका, जिसप्रकार मरण हो, वह 'दुर्लंघ्य भवितव्यता' के स्वरूप से होता है; इसलिये स्वकाल, भवितव्यता आगे-पीछे नहीं होती—यह सिद्ध होता है।

(४) गाथा १० में कहा है कि '**विलिखितं**'—यह शब्द जरूरी है। उसमें कहा है कि 'जिस प्राणी का अंत जिस काल में लिख दिया गया है—ज्ञान में ज्ञात है, उस प्राणी की आयु का अंत उसी काल में होता है।' अन्य प्रकार से और अन्य काल में होता ही नहीं है—ऐसा ध्रुव शब्द बताते हैं।

(५) अवसान काल सब जीवों के लिये निश्चित है; अनिश्चित नहीं है।

(६) गाथा १८ में स्पष्ट किया है कि मरण समय निश्चित है, अर्थात् सोपक्रम भी निश्चित है। वह आयुष्य नियम से उदीरणारूप होगी ही होगी।

(७) '**मरणे न पुरो न पश्चात्**' शब्द बड़ा स्पष्ट है कि मरण आगे या पीछे नहीं होता है।

(८) इसलिए सिद्ध होता है कि सब प्रकार का मरण अपने स्वकाल में ही होता है, पूर्व या पश्चात् नहीं होता है। मात्र आयु का सोपक्रमपना, अर्थात् अंतिम भाग में उसका उदीरणारूप परिणमन हुआ है—ऐसा ज्ञान कराने के लिये इसमें (शास्त्रों में) व्यवहारनय से अकालमरण कहने में आता है।

(९) तलवार, बंदूक, आदि कारण तो निमित्तमात्र है, उससे आयु में फेरफार हो गया—ऐसा माननेवाला द्विक्रियावादी है और अरहंत के मत से बाहर है—ऐसा भगवान का उपदेश है।

(१०) सोलापुर से प्रकाशित पद्मनन्दि-पंचविंशति की प्रस्तावना, पृष्ठ ४३ में लिखा है कि 'आयुकर्म के अनुसार जिसका, जिस समय प्राणांत होना है, वह उसीसमय होगा। इसके लिये धर्म न करके शोक करना तो ऐसा है, जैसे सर्प के चले जाने पर उसकी लकीर को पीटते रहना। (१०)'

(११) इसी शास्त्र के पृष्ठ ९८ में लिखा है कि '**इस संसार में अपने कर्म के द्वारा जो मरण का समय नियमित किया गया है, उसीसमय में ही प्राणी, मरण को प्राप्त होता है, वह उससे न तो पहिले मरता है और न पीछे भी।**'

(१२) इसी शास्त्र के १०२ पृष्ठ में लिखा है कि 'अभिप्राय यह है कि जब सभी संसारी प्राणी समयानुसार मृत्यु को प्राप्त होनेवाले हैं, तब एक को दूसरे के मरने पर शोक करना उचित नहीं है ॥२९॥'

(१३) इसी शास्त्र के पृष्ठ १०९ में गाथा ५१ में कहा है कि:—

'**कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं तेऽपीन्द्रचन्द्रादयः ॥**

अर्थ—जिस काल में प्रलय होनेवाला है, वह नियत है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी प्रकार का मरण हो, वह अपने ही काल में होता है—यह बात नियत है।'

(१४) इसी शास्त्र के पृष्ठ ११० में गाथा ५३ में लिखा है कि —

'**कुर्यात्सा भवितव्यता गतवती तत्तत्र यद्रोचते।**'

अर्थ—आई हुई भवितव्यता वही करती है जो कि उसको (भवितव्यता को) रुचता है। इससे सिद्ध हुआ कि किसी भी द्रव्य की कोई भी पर्याय अपने स्वकाल में ही होती है, किंतु कोई पर्याय, योग्यकाल में और कोई पर्याय, अयोग्यकाल में होती है—ऐसा मानना, वह मिथ्या अनेकांत है। सच्चा अनेकांत ऐसा है कि सब द्रव्य की प्रत्येक पर्याय योग्यकाल में ही होती है, अन्य काल में नहीं होती है।

१७६—एक ही पर्याय को एक ही समय में भिन्न-भिन्न अपेक्षा से योग्यकाल और अयोग्यकाल लागू पाड़ना, वही सम्यक् अनेकांत है, अर्थात् प्रत्येक पर्याय अपना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से योग्यकाल में ही होती है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल और परभाव से योग्यकाल में नहीं है, अर्थात् उसके लिये वह अयोग्यकाल है—ऐसा अस्ति-नास्तिरूप अनेकांत नियम सब द्रव्य की सब पर्यायों में लागू पड़ते हैं।

१७७—कोई भी उत्पादरूप पर्याय योग्यकाल में और कोई पर्याय अयोग्यकाल में होती है—ऐसा मानना आगम विरुद्ध है और वह वर्तमान काल की नई खोज है।

प्रत्येक पर्याय क्रमिक (क्रमनियमित) ही होती है

१७८—आधार—धवल, पुस्तक १, पृष्ठ ३८६ ''एक द्रव्य में अतीत अनागत और गाथा में आये हुए 'अपि' शब्द से वर्तमान पर्यायरूप जितनी पर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय है, तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ॥१९९॥''

इस श्लोक का सार

द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य वे 'सब तीनों काल की पर्यायोंरूप अपने-अपने कार्यकाल में परिणमन करने की योग्यता को धारण कर रहे हैं।'

पर्यायार्थिकनय से वर्तमान में जो पर्याय होती है, वही रूप से परिणमन की योग्यता को द्रव्य धारण करता है।

(१) वर्तमान पर्याय, अतीत में या भविष्य में परिणमे—ऐसा कभी बनता नहीं।

(२) अतीत की कोई भी पर्याय उसके स्वकाल में न होकर उसके आगे-पीछे के काल में होने की योग्यता को धारण करते नहीं।

(३) भविष्य की पर्याय—उससे पहिले हो जाये या उसके समय के पीछे हो जाये—ऐसी योग्यता को धारण करते नहीं।

ज्ञेय का स्वरूप

१७९—अनिश्चित, वह ज्ञेय नहीं है, द्रव्य नहीं है, गुण नहीं है, पर्याय नहीं है। [देखिये:—ज्ञेय की व्याख्या प्रवचनसार गाथा २३-३६-४१-४८ की टीका]

ऐसा होने से कोई भी पर्याय को अनिश्चित मानना, वह बड़ी भारी भूल है।

संयोग की ओर से देखनेवाला, वस्तुस्वरूप को नहीं देखता। बम पड़ना, बहुत मनुष्यों का एक साथ मरण होना, एक साथ शरीर में रहनेवाले निगोदिया जीव सबका एक साथ मरण होना, हवाई जहाज का टूटना, रोकेट का ऊपर जाना, नदी के प्रवाह का बदलना, बाँध का बनाना, कच्चे फल को जल्दी पकाना, पके फल को लम्बे काल तक कायम रखना, अकालमरण, कर्मों का संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण स्थिति-अनुभाग का घात आदि सब काम अपने-अपने स्वकाल में होते ही हैं। आगम में किसी भी उत्पादरूप पर्याय को अक्रमिकपर्याय कहा ही नहीं क्योंकि वह कथन आगम और न्याय से विरुद्ध है।

ऐसा होने पर भी कोई अपनी बुद्धि से उत्पादरूप पर्याय को सत्यरूप से अक्रमिक माने तो वह व्यवहार से विमोहित हृदयवाला है—ऐसा भगवान ने कहा है।

१८०—**प्रश्न**—जिस भव्य जीव की सिद्धि होनेवाली ही है, उसका समय निश्चित है—ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने किस आगम में कहा है ?

उत्तर—मोक्षपाहुड़, गाथा २४ में उन्होंने लिखा है कि—

'अति शोभन योगेन शुद्धं हेम भवति यथा तथा च।
कालादि लब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति॥'

अर्थ—जैसे सुवर्ण पाषाण है, सो सोधने की सामग्री के संबंध करि शुद्ध सुवर्ण होय है। **तैसे काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री की प्राप्ति, ताकरि यहु आत्मा, कर्म के संयोग करि अशुद्ध है, सो ही परमात्मा होय है॥२४॥**

संस्कृत टीका, पृष्ठ ३२० पर निम्न प्रकार लिखा है।

'कालादि लब्ध्या कृत्वा कालादि लब्ध्यां सत्यां वा'

××××**तथायं आत्मा कालादि लब्धिं प्राप्य सिद्ध परमेष्ठी भवतीति—भावार्थ।'**

१८१—भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य की यह गाथा बहुत स्पष्ट है क्योंकि मोक्ष का काल निश्चित है—ऐसा बताने के लिये हेम (स्वर्ण) का उदाहरण दिया गया है, उसका आशय यह है कि जब स्वर्ण अपनी योग्यता से शुद्ध होने के लायक होगा, तब वह स्वयं शुद्ध होगा, उस समय उसको स्वयं बाह्य उचित निमित्त का संबंध होगा ही। इस दृष्टांत से यह सिद्धांत निकलता है कि जिस-जिस भव्य जीव की मोक्ष प्राप्ति का समय आया है, उसको नियम से मोक्ष होगा और उचित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का संयोग होगा ही होगा।

१८२—इस पर से यह सिद्ध हुआ कि हरेक शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य की प्रत्येक शुद्ध-अशुद्धपर्याय अपने-अपने स्वकाल में ही होगी। जैसे, दृष्टांत में स्वर्ण लिया है, वह स्वर्ण की अशुद्धदशा है और वह शुद्ध होता है; इसीप्रकार आत्मा भी, जिसकी पर्याय अशुद्ध है, वह भी अपने स्वकाल में परमात्मा होता है। ऐसा दृष्टांत और सिद्धांत दोनों में पूर्व की पर्याय अशुद्ध है और उसका व्यय होकर शुद्धपर्याय हुई - ऐसा बताया है।

१८३—**प्रश्न**—सब द्रव्यों को अपनी (शुद्ध और अशुद्ध) पर्याय का उत्पाद और व्यय के लिये कालादिलब्धि है क्या ? हो तो इसके लिये किसी आगम का आधार है ?

उत्तर—हाँ, है। इस संबंध में कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१९ में कहा है कि—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणा सत्तीहिं संजुदा जत्था।
परिणाममाणा हि सयं ण सक्कदे कोवि वारेदुं॥

अर्थ—सर्व पदार्थ कालादिलब्धिसहित, अनेक प्रकार की शक्तिसहित हैं और स्वयं परिणमन करते हैं। उन्हें इसप्रकार परिणमन करते हुए रोकने में कोई समर्थ नहीं है।

१८४—श्री बृहद्‌द्रव्यसंग्रह, गाथा २१ की टीका, पृष्ठ ५५ में लिखा है कि 'यहाँ तात्पर्य यह है कि यद्यपि **यह जीव, काललब्धि के वश से अनंत सुख का भाजन (पात्र) होता है,** तथापि विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव का धारक जो निज परमात्मा का स्वरूप है, उसके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण और सम्पूर्ण बाह्य द्रव्यों की इच्छा को दूर करनेरूप लक्षण का धारक तपश्चरणरूप—ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तपरूप जो निश्चय से चार प्रकार की आराधना है, वह आराधना ही उस जीव के अनंत सुख की प्राप्ति में **उपादानकारण है—ऐसा जानना चाहिए और काल, उपादानकारण नहीं है; इसलिये वह काल, हेय (त्याज्य) है।' [देखिये आधार पेरा नंबर १७३]**

इससे तीन बातें सिद्ध होती हैं:—

(१) जीव का मोक्ष होता है, उसके कर्म-निर्जरा और मोक्ष अपनी स्वकाललब्धि के वश (स्वकाल में) होता है।

१८५—**प्रश्न**—अशुद्ध जीवों और अशुद्ध पुद्‌गलों की पर्यायें अनिश्चित् हैं, कितनी असमय में होती हैं—ऐसा मानने में क्या दोष आता है ?

उत्तर—ऐसा मानने से देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, ऋजुमति-विपुलमति, मन:पर्ययज्ञानी, निमित्तज्ञानी (श्रुतज्ञानी) और केवलज्ञानी भविष्य की अविद्यमान पर्यायों को तात्कालिक (वर्तमान) पर्याय की तरह विशिष्टतापूर्वक नहीं जानते हैं—ऐसी मान्यता हुई। यह मान्यता मिथ्या है और **ज्ञेयों के स्वरूप से भी विरुद्ध है।**

१८६—जगत में अनंतानंत जीव निगोदिया हैं; व्यवहार राशि के जीवों में भी बड़ी संख्या अज्ञानियों की है, और ज्ञानियों में भी चौथे गुणस्थान से १४ वें गुणस्थान तक के जीवों की कितनी ही पर्यायें अशुद्ध हैं। इसलिये सब संसारी जीवों की भविष्य की विकारी पर्यायों का **कोई वर्तमान में ज्ञाता नहीं रहेगा।** अशुद्ध जीवों और अशुद्ध पुद्‌गलों के भविष्य की हर एक पर्याय के उत्पाद-व्यय का वर्तमान में कोई ज्ञाता नहीं रहेगा। उसका फल यह होगा कि सब जीव अल्पज्ञ व छद्मस्थ

ही रहेंगे। ऐसा मानना भयंकर दोष है, किसी जीव को सर्वज्ञ मानने में न आवे तो उसका प्रतिपक्षी भावरूप अल्पज्ञपना भी सिद्ध नहीं होगा, जीव और अजीव सबका अभाव हो जायेगा, जगत शून्य हो जायेगा। ज्ञेय और ज्ञान व्यवस्थित है और परस्पर निमित्त है—उस सिद्धांत का नाश हो जायेगा।

ज्ञान का स्वरूप

१८७—सर्वज्ञ भगवान, भविष्य की पर्यायों को भी तात्कालिक पर्यायों की तरह उसके सर्वस्व स्वरूप को जानते हैं – ऐसा प्रवचनसार की,नीचे दी हुई गाथाओं से स्पष्ट होता है। [देखे, पेरा १८९ का उत्तर]

१८८—**प्रश्न**—अशुद्ध जीवों और अशुद्ध पुद्‌गलों की भविष्य की पर्यायें अनिश्चित हैं, और कितनी ही 'असमय में' होती हैं, इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान में वह पर्याय जब उत्पादरूप होती है, तब जानते हैं, इससे पहले तो कोई पर्याय होगी, मात्र इतना ही जानते हैं, उसका पूर्ण स्वरूप नहीं जानते, क्या ऐसा मानना ठीक है ?

उत्तर—श्री प्रवचनसार में गाथा ३७, ३८, ३९, ४१, ४७, ५१ में यह सिद्ध किया है कि वे सब बातें झूठ हैं।

१८९—[१] श्री प्रवचनसार गाथा ३७ में कहा है कि **असद्‌भूत पर्यायों को तात्कालिक पर्याय की तरह विशेषपूर्वक केवलज्ञानी जानते हैं।**

[२] गाथा ३८ में कहा है कि **जो पर्याय अनुत्पन्न है, वह पर्याय भी केवलज्ञान में प्रत्यक्ष है।**

[३] गाथा ३९ में कहा है कि **अनुत्पन्न पर्याय तथा नष्ट पर्याय को केवलज्ञान, प्रत्यक्षरूप से न जाने तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?**

[४] गाथा ४१ में कहा है कि **अनुत्पन्न और नष्ट पर्याय को जानता है, वह ज्ञान अतीन्द्रिय है।**

[५] गाथा ४७ में कहा है कि **जो एक ही साथ सर्वतः तात्कालिक या अतात्कालिक, विचित्र और विषम समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है, उसे क्षायिक ज्ञान है।**

[६] गाथा ५१ में कहा है कि **तीनों काल में सदा विषम सर्व क्षेत्र के अनेक प्रकार के समस्त पदार्थों को जिनदेव का ज्ञान एक साथ जानता है। अहो! ज्ञान का माहात्म्य!!**

[७] गाथा ४८ में लिखा है कि **जो एक ही साथ तीन काल और तीन लोक के पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्यायसहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है।**

[८] गाथा ४९ में कहा है कि **यदि अनंत पर्यायवाले एक द्रव्य को तथा अनंत द्रव्यसमूह**

को एक ही साथ नहीं जानता तो वह सब अनंत द्रव्यसमूह को कैसे जान सकेगा अर्थात् जो आत्मद्रव्य को नहीं जानता, वह समस्त द्रव्यसमूह को नहीं जान सकता।

ज्ञेयों का स्वरूप

१९०—**प्रश्न**—ज्ञेय किसको कहते हैं?

उत्तर—इसके लिये प्रवचनसार कीं ३६, ४१, ४८, १४५वीं गाथाएँ देखिये। श्री प्रवचनसार, गाथा ३६ में कहा है कि '**ज्ञेय, वर्त चुकी, वर्त रही और वर्तनेवाली—ऐसी विचित्र पर्यायों की परम्परा के प्रकार से त्रिविध कालकोटि को स्पर्श करता होने से अनादि-अनंत द्रव्य है। (आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञेय, समस्त द्रव्य है) वह ज्ञेयभूत द्रव्य, आत्मा और पर (स्व और पर)—ऐसे दो भेदों से दो प्रकार का है; ज्ञान, स्व-पर ज्ञायक है; इसलिये ज्ञेय की ऐसी द्विविधता मानी जाती है।**'

गाथा ४१ में कहा है कि '**अप्रदेश, सप्रदेश, मूर्त, अमूर्त तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्यायमात्र, ज्ञेयता का अतिक्रमण न करने से ज्ञेय ही है।**'

गाथा ४८ में लिखा है कि '**यह समस्त (द्रव्यों और पर्यायों का) समुदाय ज्ञेय है।**'

गाथा १४५ में लिखा है कि '**इसप्रकार जिन्हें प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है—ऐसे आकाश पदार्थ से लेकर काल पदार्थ तक के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है, उसे वास्तव में, उसमें अंतर्भूत होने पर भी, स्व-पर को जानने की अचिंत्य शक्तिरूप संपत्ति के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं। इसप्रकार शेष द्रव्य, ज्ञेय ही है और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।**'

इससे सिद्ध होता है कि भविष्य की कोई भी पर्याय अनिश्चित है और असमय में होती है—ऐसा मानना, आत्मा के ज्ञानस्वभाव की और ज्ञेय के ज्ञेयस्वभाव की अज्ञानता का सूचक है।

१९१—**प्रश्न**—(१) पंचास्तिकाय, गाथा १५५ में कहा है कि अनियत गुणपर्यायवाला हो, वह परसमय है; वहाँ '**अनियत**' का क्या अर्थ है? (२) 'अनियतपना' किसे कहते हैं?

उत्तर—गाथा, १५५ में काल-अपेक्षा '**अनियत**' नहीं कहा, किंतु भाव-अपेक्षा से नीचे के शब्दों में कहा है 'संसारी जीव, (द्रव्य-अपेक्षा से) ज्ञान-दर्शन में **अवस्थित** होने के कारण, स्वभाव से नियत **(निश्चलरूप से स्थित)** होने पर भी, अब अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करके परिणति करने के कारण, उपरक्त उपयोगवाला (-अशुद्धोपयोगवाला) होता है, तब (स्वयं) भावों का विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) ग्रहण किया होने के कारण, उसे जो

अनियत गुणपर्यायपना होता है, **वह परसमय, अर्थात् परचारित्र है; वही जीव जब अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति को छोड़कर,** अत्यंत शुद्ध उपयोगवाला होता है, तब (स्वयं) भाव का एकरूपपना ग्रहण किया होने के कारण, उसे जो नियत गुण-पर्यायपना होता है, वह स्वसमय, अर्थात् स्वचारित्र है।'

यहाँ 'अनियत गुण-पर्याय' का अर्थ रागवाला उपयोग है, यह विभावरूप, अशुद्धपर्याय अपने शुद्धस्वरूप से विरुद्ध होने के कारण, वह अपने स्वरूप में स्थिर (स्थायी) नहीं है, किंतु अस्थिररूप, अनेकरूप, विविध प्रकाररूप; चलरूप है—ऐसा उनका (अनियत का) अर्थ है।

परसमयरूप परिणमनेवाले जीव की पर्याय, स्वकाल में नहीं होती, अक्रमिक (आगे-पीछे) होती है—ऐसा अर्थ इस गाथा का हो नहीं सकता, अर्थात् ऐसा अर्थ तत्त्वत: गलत है।

श्री जयसेनाचार्य ने—'नियत' का अर्थ-निर्मल और 'अनियत' का अर्थ-मलिन निम्न शब्दों में कहा है—'प्रथम तो जीव, शुद्धनय से **विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव है;** पश्चात् व्यवहार से निर्मोह शुद्धात्मोपलब्धि के प्रतिपक्षभूत अनादि मोह के उदय के **वश होकर** मतिज्ञानादि **विभावगुण और नर-नारकादि विभावपर्यायरूप परिणत होकर परसमय रत होने से** परचरित होता है; निर्मल विवेकी स्वसमयरूप परिणमते हैं।'

स्वसमय जीव अपने स्वरूप में निश्चल रहने के कारण 'नियत गुण-पर्यायवाला' कहा है और जो जीव, मोहवश स्वयं परलक्षी होकर **अस्थिर होता है, रागादिक औपाधिकभावरूप परिणमता है, उसे 'अनियत गुण-पर्यायवाला' कहा है।**

संक्षेप में ऐसा समझना कि स्वचारित्र, वह 'नियत गुण-पर्याय' है और परचारित्र, वह 'अनियतगुणपर्याय' है। अनियत का अर्थ 'विभाव' अथवा औपाधिकभाव यहाँ कहा है।

श्री समयसार, गाथा २०३ की टीका में भी नियत और अनियत का अर्थ इसप्रकार ही करने में आया है।

श्री प्रवचनसार ४७ नयों के अधिकार में नय नंबर २६-२७ में नियतनय और अनियतनय का वर्णन है, वहाँ भी एक ही समय में एक जीव में नियतस्वभाव को अपना शुद्धस्वभाव और अनियत को अपना अशुद्धस्वभाव कहा है।

श्री समयसार, गाथा १४ की टीका में आत्मा के वृद्धि-हानिरूप पर्यायभेदों को '**अनियत**' कहा है और चलाचलरहित एकरूप भाव को '**नियत**' कहा है। गाथा २०५ में कहा है कि—''यदि

(तू) कर्मों से मुक्त होना चाहता हो तो '**नियत**' ऐसा इसको (ज्ञान को) ग्रहण कर, टीका में कहा कि '××नियत ही ऐसा यह एक पद प्राप्त करनेयोग्य है।''

'**अनियत**' का अर्थ सब जगह इस ही प्रकार करने में आया है क्योंकि विभाव-अशुद्धता तो एक प्रकार की नहीं है, परपदार्थ का आश्रय करने से विभाव में विश्वरूपता-अनेकता आती है; निर्मल स्वभावरूप एकरूपता आती ही नहीं और वे सब **विभावभाव, हेय हैं - ऐसा बताने के लिये उसे 'अनियत' कहा है।**

जीव में असंख्य प्रदेशों का संसारदशा में संकोच-विस्ताररूप परिणमन तथा वृद्धि-हानिरूप परिणमन है, उसको भी अनियतभाव कहा है।

(देखें, राजमल्लजी कृत समयसार कलश टीका, सूरतवाली, पृष्ठ २०)

सारांश

'अनियत' का अर्थ—कोई भी उत्पादरूप पर्याय अपने नियत स्वकाल में न होकर, आगे-पीछे हो जाये, या अक्रमिक भी हो जाये—ऐसा अर्थ, जैन सिद्धांत में नहीं है।

श्री देवसेनाचार्य कृत आलापपद्धति, प्रकाशक - सकल दिगम्बर जैन पंचान (नातेपुते), पृष्ठ १०५ में कहा है कि 'वस्तु का **नियमित आकार, नियमित क्षेत्र, नियमित काल और नियमित भावरूप से** ज्ञान नहीं होने को अप्रतिपत्ति दोष कहते हैं। जैसे, यह सीप है कि चाँदी? यहाँ पर **नियमित** आकारादिरूप से ज्ञान नहीं होने के कारण वास्तव में यह क्या वस्तु है—ऐसा नहीं समझा जा सकता है तथा जो वस्तु, किसी के ज्ञान का विषय ही नहीं होती, वह वस्तु ही नहीं है—ऐसा समझा जाता है।'

विभावभावरूप पर्याय, जिसको शुद्धपर्याय की अपेक्षा से अनियत कहने में आता है, वह भी अपना '**नियमित भावरूप**' है, इतना ही नहीं, किन्तु वह अपने 'स्वकाल' में होने से '**नियमित काल**' में है; पर्याय, कभी **स्वकाल से हटकर आगे-पीछे नहीं होती**—ऐसा न माननेवालों को न्याय शास्त्र में जो आठ दोष दिये हैं, उसमें से '**अप्रतिपत्ति**' नाम का बड़ा दोष आता है। सोलापुर से प्रकाशित पद्मनन्दी पंचविंशतिका के अनित्य पंचाशत, पृष्ठ ५८, गाथा १८ में कहा है कि—मरण, जीव की अशुद्धपर्याय है, वह भी पूरा-पश्चात् (आगे-पीछे) नहीं होती, और सब पर्याय नियमित ही होती हैं।

इस विषय में विशेष प्रश्नोत्तर

१९२—**प्रश्न—निमित्तों के आलम्बन की लालसावाला जिसका चित्त है - ऐसे जीवों को** आगम में कैसा कहा है?

उत्तर— श्री समयसारजी, कलश २५७ में आचार्यदेव ने ऐसे जीवों को पशु, अर्थात् अज्ञानी कहा है। ज्ञेय है, वह ज्ञान का निमित्त है और अज्ञानी, निमित्त का आश्रय करके अपने ज्ञान के सम्यक्त्वपने का खून करता है, उसके लिये यह कलश आया है।

१९३—इससे सिद्ध हुआ कि जो जीव, वास्तव में निमित्त से लाभ मानता है, **उसको परपदार्थ के आलम्बन की लालसा कभी भी नहीं छूटेगी और वह मिथ्यादृष्टि रहेगा।**

प्रश्न—निमित्त जुटावे या नहीं ?

उत्तर— निमित्त, परद्रव्य है; उसका मालिक वह स्वयं है, जीव नहीं है; तो वह पर-निमित्त को कैसे जुटा सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं जुटा सकता।

इस विषय में श्री प्रवचनसार की गाथा १६ की टीका, पृष्ठ १९ में लिखा है कि 'यहाँ यह कहा गया है कि—**निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का संबंध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं।**'

१९५—विशेष यहाँ यह समझना चाहिये कि जहाँ-जहाँ काललब्धि का प्ररूपण करने में आया हो, वहाँ-वहाँ शेष सामग्रियों का कथन न करने में आया हो तो भी वे उसमें अंतर्निहित हो जाती हैं, इसलिये काललब्धि मानने से पुरुषार्थ उड़ जाता है—ऐसा नहीं है क्योंकि उस समय में भी पुरुषार्थ-स्वभावादि पाँच समवाय एक साथ होते हैं। ***(देखिए, धवला, भाग ६, पृष्ठ २०४)***

१९६—सोपक्रम आयुवाले जीव का किस समय मरण होगा—यह अवधिज्ञानी आदि और सर्वज्ञ के ज्ञान में आया, आयुकर्म की उदीरणा कब होगी—यह भी अवधिज्ञानी आदि और सर्वज्ञ के ज्ञान में आया। इसप्रकार अशुद्धपर्यायों का ज्ञान भी आया, और सर्वज्ञ के ज्ञान में, भविष्य में सिद्ध होनेवाले जीवों की कर्म-निर्जरा का समय, कर्म-मुक्ति का समय, सिद्धदशा का प्रथम समयादि सब जानने में आता है। प्रश्नकार, उसका समय निश्चित नहीं है - ऐसा प्रतिपादन करते हैं। आप देखिये—यह कितनी बड़ी विपरीतता है ? इसप्रकार सिद्ध हुआ कि तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३ की टीका में वार्तिक ७-८-९ संबंधी जो अर्थ, प्रश्नकार करना चाहता है, वह विपरीत है।

भूल का स्पष्टीकरण

१९७—प्रश्न में वार्तिक ७-८-९ का जिसप्रकार अर्थ करना चाहते हैं, उसप्रकार अर्थ करने से क्या-क्या भूलें होती हैं—यह बताते हैं।

(१) ज्ञेयतत्त्व के स्वरूप में बड़ी भारी भूल है, क्योंकि उनका अभिप्राय प्रवचनसार की गाथा ३६, ४१, ४८ तथा १४५ की टीकाओं से विरुद्ध है।

(२) ज्ञानतत्त्व में भी बड़ी भूल है क्योंकि वह देशावधि, परमावधि, सर्वाविधि, ऋजुमति-विपुलमति, मन:पर्ययज्ञानी, निमित्तज्ञानी (श्रुतज्ञानी) और केवलज्ञानी के स्वरूप से विरुद्ध है।

(३) जीव-अजीवतत्त्व की भूल—ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व की भूल होने से उसमें जीव, अजीवतत्त्व की भूल आ गई, क्योंकि अपना ज्ञान, जीवतत्त्व है और ज्ञेयतत्त्व में परजीव और अचेतन, सब द्रव्य आ जाते हैं।

(४) आस्रव, बन्धतत्त्व की भूल—जिस जीव को जीव-अजीव का स्वसंवेदनपूर्वक सच्चा भेदज्ञान नहीं होता है, वह राग से एकत्वबुद्धिवाला होता है; इसलिये उसको जीव और आस्रव का भेदज्ञान कभी नहीं होता। ***(देखिये, श्री समयसार गाथा ६९, ७०, ७२, ७४)***

(५) पुण्य-पापतत्त्व संबंधी भूल—पुण्य-पाप का श्रद्धान हो तो पुण्य को मोक्षमार्ग न माने या स्वच्छंदी बनकर पापरूप न प्रवर्ते। इसलिये मोक्षमार्ग में ऐसा श्रद्धान भी आवश्यक जानकर, इन दो तत्त्वों को मिलाने से नवपदार्थ कहे। ऐसा स्वरूप अज्ञानी नहीं जानते हैं, इसलिये उनकी पुण्य-पाप, दोनों तत्त्वों के संबंध में भूल होती है।

(६) संवर-निर्जरातत्त्व की भूल—श्री प्रवचनसार, गाथा १५७ में, सम्यग्दृष्टि की व्यवहारश्रद्धा, व्यवहारज्ञान व व्यवहारचारित्र को शुभोपयोग कहा है, धर्मी जीव का शुभोपयोग का एक अंश भी संवर-निर्जरारूप नहीं है। *देखो श्री समयसार, राजमलजी कृत कलश-टीका, पृष्ठ १११-११२* में स्पष्टरूप से कहा है कि 'सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग भी कभी भी संवर-निर्जरा का कारण नहीं होता किंतु अज्ञानी जीव, शुभोपयोग में आंशिक संवर-निर्जरा मानते हैं, यह संवर-निर्जरातत्त्व की भूल हुई।'

(७) मोक्षतत्त्व की भूल—सिद्ध की पर्याय का, अर्थात् कर्म-मुक्ति का कोई निश्चित काल नहीं है—ऐसा प्रश्नकार लिखता है। प्रश्नकार के शब्द निम्नप्रकार हैं। 'जीवों की कर्म-निर्जरा तथा कर्म-मुक्ति का **कोई निश्चित समय** नहीं है।' इसलिये वह मोक्ष के स्वरूप से, केवलज्ञान के स्वरूप से, आठ कर्मों के क्षय के स्वकाल के संबंध में, (पर्याय का अर्थ में, क्रम का अर्थ में, क्रमभावी, क्रमनियमित, क्रमानुपाति, प्रतिनियत, स्वरूप का और ज्ञान के स्वरूप का—इन संबंधी) विपरीत मान्यता करते है। इसलिये ऐसी विपरीत मान्यता होने से उसे मोक्षतत्त्व की भूल होती है।

१९८—प्रश्न नं० १-२-३ का समग्र जवाब

(१) अकालमृत्यु, सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय है। यह बात जब प्रश्नकार के प्रश्न में स्वीकृत है तो सर्वज्ञ के ज्ञान में किसके, किससमय, अकालमृत्यु (उदीरणामरण) होगी—ऐसा जानने में आता ही है; न जाने—ऐसा नहीं बनता। निश्चय से अकालमृत्यु, स्वकाल में ही है; व्यवहार से कर्म की उदीरणा का ज्ञान कराने के लिये 'अकाल' कहा है, किंतु वह स्वकाल में नहीं होती है - ऐसा नहीं है।

(२) अनादि-अनंत काल के सब संसारी जीवों के कर्म की निर्जरा, उदीरणा, उदयादि सब सर्वज्ञ के केवलज्ञान का विषय होने से करणानुयोग के शास्त्र में वह बतलाये गये हैं। तीनों कालवर्ती सब पर्यायें, ज्ञेय होने से, अपने स्वरूप-सर्वस्व को अक्रम से (युगपत्) ज्ञान को अर्पण करते हैं और ज्ञान, अपनी अखंडित प्रतापवान् प्रभुत्वशक्ति से अत्यंत आक्रमण करके, वह सभी पर्यायों को अपने ज्ञान में प्रतिनियत करते हैं, और अनादि-अनंत काल की छहों द्रव्य की प्रत्येक पर्याय, अपना समस्त स्वरूप अकम्पपने से ज्ञान को अर्पण करते हैं। इसलिये जिस जीव ने अतीत अनंत काल में सिद्धि प्राप्त की उसकी तथा जो वर्तमान में मुक्ति प्राप्त करते हैं और भावी में सिद्धि को प्राप्त करेंगे; उनकी संसारदशा से लेकर सिद्धदशा वहाँ तक की, अर्थात् अज्ञानदशा की कर्म-निर्जरा और ज्ञानदशा बाद की कर्म-निर्जरा, केवलज्ञान में प्रत्यक्ष भासती हैं। इसलिये श्री अकलंकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिक में जो अर्थ, प्रश्नकर्ता ने समझा है, वह गलत है।

(३) सभी आचार्य (-दिगम्बर जैनाचार्यों) का कथन यथार्थ है, किंतु नयविभाग द्वारा उसका तात्पर्य समझने की आवश्यकता है। *(क्रमशः)*

★

सुभाषित

- सर्व कर्तव्य में कर्तव्य मात्र आत्मार्थ ही है, वह संभावना निरंतर रखो,
- स्वरूप का अनिश्चय वही मुख्य अंतराय है। (श्री राजचंद्रजी)
- जड़ कर्म के उदय से जीव दु:खी होते-रुलते हैं, यह कथन लौकिक है, तात्त्विक नहीं है।
- ''तत्त्वार्थ निश्चयो वक्ति व्यवहारो जनोदितम्''

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—सत्पुरुषों की वाणी किसलिए होती है ?

उत्तर—(१) भव्य जीवों को सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थ, देव, गुरु, शास्त्र और धर्म का विशेष ज्ञान कराने के लिए,

(२) स्व-पर और हित-अहित का बोध कराने के लिए,

(३) अहित से छूटने और हित में प्रवृत्त कराने के लिए

(४) सम्यक् प्रकार से तत्त्व के उपदेश के लिए

प्रश्न—शास्त्र किसलिए हैं ?

उत्तर—सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता ही है।

शास्त्र स्वतंत्रता, यथार्थता और वीतरागता के ग्रहण कराने के लिए हैं।

शास्त्र का अध्ययन, श्रवण और उपदेश उक्त गुणों की प्राप्ति के लिए करे तो सफल है, अन्यथा ये सब निष्फल श्रम है। (ज्ञानार्णव, गाथा ८-९ का भावार्थ)

स्वानुभव दर्पण

जीव काल संसार ये, कहे अनादि अनंत।
गहि मिथ्या श्रद्धान जिय, भ्रमे न सुक्ख लहंत॥४॥
जो चउ गति दुख से डरे, तो तज सब पर भाव।
कर शुद्धातम चिंतवन, शिव सुख यही उपाव॥५॥
देहादिक जो पर कहे, सो माने निजरूप।
सो बहिरातम जिन कहे, करे भ्रमण भव कूप॥१०॥
देहादिक पुद्गलमयी, सो जड़ है पर जान।
ज्ञाता दृष्टा आप तू, चेतन निज पहचान॥११॥
आप आपने रूप को, जाने सो शिव होय।
पर में अपनी कल्पना, करे भ्रमे जग सोय॥१२॥
बंध विभाव प्रसाद हो, शिव स्वभाव से जान।
बंध-मोक्ष परिणाम से, कारण और न आन॥१४॥ *(योगसार दोहा)*

सुवर्णपुरी समाचार

पूज्य स्वामीजी सुखशांति से विराजमान हैं, प्रवचन में तारीख १६-८-६३ से तारीख २३-८-६३ तक आद्यस्तुति ग्रंथों के कर्ता श्री समंतभद्राचार्यदेव विरचित 'स्वयंभू स्तोत्र' जिसमें २४ तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति द्वारा जैन सिद्धांत भरा हुआ है, उसके ऊपर प्रवचन हुआ, जो अध्यात्मरस झरते, भक्ति भरे प्रवचनों, श्रोताओं को विशेष प्रसन्नता, जिनेन्द्र भक्ति का रहस्य, वस्तु स्तवन और जैनधर्म की सच्ची महिमा समझने में कारण था।

दसलक्षणी धर्म पर्व में सबेरे श्री पद्मनंदी पंचविंशति शास्त्र में से उत्तमक्षमादि दस धर्मों के ऊपर तथा श्री समयसारजी शास्त्र गाथा १०५ से १२५ तक प्रवचन हुआ। दोपहर में प्रवचनसार गाथा ६३ से लेकर क्रमशः १९५ तक प्रवचन हुआ। अब सबेरे प्रवचनसार तथा दोपहर में भी प्रवचनसार चलेगा। भाद्र सुदी १ को आठ बालब्रह्मचारिणी बहिनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ली, समाज द्वारा बड़ा उत्सव मनाया गया था।

दसलक्षण पर्व में धार्मिक कार्यक्रम हर साल के माफिक जिनमंदिर में मंडल विधान पूर्वक बृ० दसलक्षण व्रत पूजन शांति एकाग्रतापूर्वक चलती थी। भाद्र सुदी चौथ के दिन श्री पद्मनंदी आचार्यकृत आलोचनाधिकार, पूज्य स्वामीजी ने आध्यात्मिक शैलीसहित बड़ी रोचकता से सुनाया था। भाद्र सुदी पंचमी-प्रवचन के बाद बड़े विशाल रूप से जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा निकाली थी, बाद जिनमंदिर में आकर खास भक्ति नृत्यगान भजन की धुन मची थी। शाम को हमेशा हर साल की माफिक सर्व सामान्य प्रतिक्रमण के पाठ बहिनों और भाईयों में अलग-अलग स्थान पर होते थे। खास बड़ी संख्या में बहिनें कई वर्षों से सुगंध दशमी आदि व्रत करती हैं, उसके उद्यापन भी हुए थे। उपवास करने में भी बहिनों की संख्य अधिक होती थी। सुगंध दशमी के दिन दस भक्ति, दस पूजायें आदि विशेष कार्यक्रम थे, बाहर गाँव से व्रत करनेवाले इन दिनों में ज्यादा संख्या में एकत्र होते हैं।

उत्तर भारत के अनेक धर्म जिज्ञासु खास लाभ लेने के लिये आये थे, उसमें मुख्य व्यक्ति समाज भूषण सेठ श्री भगवानलालजी श्री शोभालालजी आदि सागर-टीम्बरनी आदि से आये हैं तथा दिल्ली, इन्दौर, उज्जैन, जयपुर, उदयपुर, खंडवा, मलकापुर, कलकत्ता आदि से आये हैं।

अनंत चतुर्दशी तथा बदी १ को क्षमावाणी पर्व भी हर साल के माफिक मनाया गया था। बम्बई आदि अनेक गाँव से पर्यूषण पर्व में जो कार्यक्रम चला उसके समाचार आये हैं, किंतु स्थान और समय के अभाव से न दे सके।

ब्रह्मचर्य की भूमिका कैसी होती है ?

सोनगढ़ में भाद्र० सुदी १ के दिन आठ कुमारिका बहिनों ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली, उस प्रसंग में उनको अभिनंदनरूप से विद्वान भाई श्री हिम्मतलालजी शाह ने जो भावार्द्र वैराग्यप्रेरक भाषण किया था, वह यहाँ अक्षरशः दिया गया है, उसमें ब्रह्मचर्य जीवन की यथार्थ भूमिका कैसी होती है—उसका उन्होंने सुंदर वर्णन किया है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति की चिंता, मंथन, प्रयत्न करते-करते, उसकी प्राप्ति के लिये लालायित रहनेवालों को इसप्रकार ब्रह्मचर्य आदि के अनेकविध शुभभाव सहज ही आ जाते हैं; इसलिये उसमें मुख्यता है आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के प्रयत्न की। अब विशेष तो उन्हीं श्री का भाषण ही बोलेगा। (तारीख २०-८-६३, सोनगढ़)

आज का प्रसंग महा शुभ प्रसंग है। इस कालिकाल में जैन तथा जैनेतरों में ऐसा असिधाराव्रत लेने के प्रसंग बहुत दीर्घकाल से क्वचित् ही हुए होंगे। आज आठ कुमारिका बहिनें जो उच्च पढ़ाई-शिक्षा को प्राप्त हैं, साधन-संपन्न हैं, वे आजीवन ब्रह्मचर्य जैसा महान मेरु सम—मेरु को तौलना जैसा दुर्धर—व्रत अंगीकृत करती हैं, और कुल ३७-३७ कुमारिका बहिनों ने गुरुदेव के समक्ष ब्रह्मचर्य ग्रहण करके, सत्संग के लिये अपना जीवन न्योछावर किया है। ऐसे प्रसंग गुरुदेव के स्वानुभव बहती वाणी के प्रताप से होते रहते हैं।

'आत्मा एक अमरतत्त्व है और देह क्षणिक है, अमरतत्त्व की पहिचान, वही इस मनुष्य भव में कर्तव्य है, अन्यथा इस जीवन का एक फूटी बदाम का भी मूल्य नहीं है'—ऐसे स्वानुभव झरते उपदेश के प्रताप से ऐसी आजीवन ब्रह्मचर्य जैसी अशक्य—असंभवित जैसी बात को छोटी-छोटी बालायें भी शक्य करके दिखाती हैं। यह दुर्लभ मनुष्यभव विषयों में रमने में ही गँवाया जाये तो यह भस्म के लिये रत्न जलाने के समान है, ऐसा श्री कार्तिकेयस्वामी ने कहा है, और पूज्य गुरुदेव हमको अनेकबार कहते हैं। नाज के अंदर खाक (भस्म) मिलाने की जरूरत हो और उसके लिये रत्नों के पुंज को कोई जला डाले—उससे अनंतगुना मूर्ख वह मनुष्य है जो कि विषयों में रमने के लिये इस मनुष्य भव को—सत्संग को अधिष्ठित ऐसे इस मनुष्य भव को-व्यर्थ गँवाता है। गुरुदेव के ऐसे पुरुषार्थ प्रेरक उपदेश को पाकर इन बहिनों ने महान दुर्घट बात को भी सुगम बनाया है।

पूज्य गुरुदेव के उपदेश के प्रताप से इस काल में बहुत-बहुत प्रकार की प्रभावना हो रही है। 'आत्मतत्त्व की पहिचान करो, भीतर में ज्ञानमूर्ति भगवान है, उसकी पहिचान किये बिना सभी

कार्य निष्फल जाते हैं'—इसप्रकार के गुरुदेव के पावन उपदेश का अनुसरण करके, ऐसे आत्मतत्त्व को प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न अंतर में करते-करते उसकी तीव्र जिज्ञासा-लालायितता; उसका मंथन करते-करते, अनेक जाति के शुभभाव सहजपने से, कष्टदायक ऐसा अलग प्रयत्न बिना किये, स्वयंमेव जीवों को आ जाते हैं। सारे भारतवर्ष के अंदर अनेक-अनेक जीव अनेक गाँव में स्वाध्याय, वांचन-मनन, तत्त्वज्ञान का विचार, मंथन, आत्मस्वरूप पहिचानने के लिये लालायितपना—ऐसे उच्च प्रकार के शुभभाव करनेवाले, गुरुदेव के परम प्रताप से हुए हैं।

भीतर में सर्वज्ञस्वभावी तत्त्व विराजमान है, वह जहाँ तक पहिचानने में नहीं आता, वहाँ तक जिन्होंने सर्वज्ञ पद प्राप्त किया है, ऐसे अरहंतों और सिद्ध परमात्माओं के प्रति जीव को भक्तिभाव बहता है; ऐसा भक्ति का प्रवाह—ऐसे शुभभाव भी, गुरुदेव के अध्यात्म उपदेश के प्रताप से जोरदार पानी के पूर से उछलती नदी के समान बहे हैं। लोभ भी अनेक जीवों के मंद हुआ है; तन, धन, यौवन, स्त्री, पुत्र ये सब विद्युत के समान चंचल हैं, ऐसा भासने से एक आत्मा ही अमरतत्त्व है, ऐसा चिंतन, मंथन रहने से, अंदर (अंतरंग में) लोभ मंद होता है, माया मंद होती है, समता का भाव खिलता है; इसप्रकार जीवों को लोभ की मंदता होने पर स्थान-स्थान पर सर्वज्ञ भगवान के मंदिर भी बने हैं। इसप्रकार अनेक जीवों को अपनी योग्यतानुसार आत्महित को प्राप्त करने की लगन, इमसें चढ़ते पड़ते, उसके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करते-करते अपनी योग्यतानुसार अनेक सद्गुण प्रगट हुए हैं। ऐसा एक प्रकार का इस ब्रह्मचर्य का सद्गुण भी जीव को प्रगट होता है; उन जीवों को वैराग्य होता है कि 'धिक्कार है इस आत्मा को जो कि विषयों में रमकर प्राप्त सत्संग का भी लाभ ले सकता नहीं। ऐसा लाभ यदि न लिया तो अनंत भवसागर में डूबते-डूबते महाभाग्य से इस हाथ में आया हुआ नौका का तख्ता भी छूट जायेगा, और जीव को अपार पश्चाताप होगा। इसप्रकार वैराग्य भावना का सेवन करनेवाले जीवों को ब्रह्मचर्य सहजतया आता है। (सहजतया का अर्थ आत्मतत्त्व की पहिचानपूर्वक ऐसा नहीं, परंतु कष्टयुक्तपने नहीं, जबरदस्तीपने से नहीं, 'इसप्रकार बिना कष्ट सहन किये हमको मोक्ष प्राप्ति नहीं होगी, इसलिये कष्ट सहन करना चाहिये'—ऐसे भाव से नहीं किंतु आत्मस्वरूप की प्राप्ति का यथाशक्ति प्रयत्न करते-करते सुगमतया।)

यों तो ये बहिनें जानती हैं कि आत्मानुभव के पूर्व की ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा, वह मात्र शुभभाव ही है, और वह शुभभाव, मुक्ति का प्रयत्न नहीं है, वह मुक्ति का पुरुषार्थ नहीं है। मुक्ति का पुरुषार्थ तो

आत्मस्वभाव की पहिचान होने पर प्रगट होता है। आत्मतत्त्व-चिन्तामणि की पहिचान जब होती है, तब उसकी पहलूरूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि मोक्षमार्ग की पर्यायें प्रगट होती हैं, उसके पहले नहीं।

दूसरे अन्य मार्ग के प्ररूपक जीव तो ऐसा कहते हैं कि यदि एक बार ब्रह्मचर्य कष्ट करके भी सहोगे तो मोक्ष अवश्य मिलेगा।—ऐसा माननेवालों में भी, ऐसे मार्ग में भी, उस ब्रह्मचर्य को पालन करनेवाले अत्यंत अल्प संख्या में निपजते हैं। गुरुदेव कथित स्वानुभूत अमरतत्त्व की बात ऐसी अद्‌भुत है कि श्रोताओं को वह हृदय में गहराई से पैठ जाती है, शुद्धि के पुरुषार्थ में वे लोग लगते हैं और ऐसा होने पर शुभभाव प्रगट होते हैं। इसप्रकार प्रगट हुआ जो शुभभाव वह इन बहिनों ने अंगीकृत किया हुआ ब्रह्मचर्य है। इसप्रकार शुद्धि के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करते-करते इन बहिनों को यह शुभभाव आया है।

कोई क्षणिक वैराग्य में किसी के उपदेश के तात्कालिक असर से अथवा स्वतंत्र रहने की धुन में लिया हुआ ब्रह्मचर्य वह अलग बात है, और वर्षों के सत्संग, वर्षों के अभ्यास के बाद, एकमात्र आत्महित के निमित्त से पूज्य गुरुदेव की सुधास्यंदिनी वाणी के निरंतर सेवन के लिये, उस सुधापान के सामने अन्य सांसारिक कथनमात्र कल्पित सुखादि अत्यंत गौण हो जाने से, और परम पूज्य बहिन श्री बहिन (चंपाबहिन-शांताबहिन) की शीतल छाया में रहकर कल्याण करने की भावना से लिया हुआ यह ब्रह्मचर्य - वह बिल्कुल अलग बात है।

सामान्य रीति से प्रथम प्रकार का ब्रह्मचर्य भी जगत में अत्यंत अल्प-नहिंवत् होता है, तो इसप्रकार का ब्रह्मचर्य तो बहुत प्रशंसनीयपने को प्राप्त होता है।

धन्य है वह काल कि जब तीर्थंकर भगवंत विचरते थे और सहज मुनिदशा का निरूपण करते थे, वह सुन कर—

त्यजान्येतत् सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं,
मुदा संसारस्त्रीजनित-सुखदुःखावलिकरं।
महामोहान्धानां सतत-सुलभं दुर्लभतरं,
समाधौ निष्ठानां अनवरत-मानन्दमनसाम्॥

ऐसा करके राजपुत्र गृह छोड़के चल पड़ते और जिन दीक्षा लेकर भावमुनिपने से विहार करते थे। 'महामोह के अंध प्राणियों को अब्रह्मचर्य सुलभ है, हमें अब्रह्मचर्य दुर्लभ है; अब्रह्मचर्य

तो हमें मेरु पर्वत को तोलने जैसा लगता है, अब्रह्मचर्य हमको अग्निशिखा पीने जैसा और असिधारा पर चलने जैसा दुर्घट लगता है और ब्रह्मचर्य में रहना वह सहज लगता है, ब्रह्मचर्य अमृत का पान करने समान, अमृत के सरोवर में स्नान जैसा लगता है, ब्रह्मचर्य हमारा अपना लगता है, और अन्य सभी पराया लगता है। ऐसे भावपूर्वक राजपाट छोड़कर राजा जब चल पड़ते थे, और निरंतर ब्रह्मनिष्ठ रहकर हमेशा सुधापान करते थे, वह काल तो धन्य होगा। धन्य है वह काल जब कि ऐसी मुनिदशा का दर्शन होता होगा। इस काल में तो ऐसी मुनिदशा का निरूपण करनेवाले भी बहुत अल्प हैं। मुनिदशा भी मानो कष्टसाध्य-कष्टरूप हो—ऐसा निरूपण जैनदर्शन में भी व्यापक हो गया है, जैनदर्शन तो मानों एक थोथी जैसी क्रिया में समाविष्ट हो, क्रियाओं से ही मोक्ष प्राप्ति होती हो—ऐसा जैनदर्शन का विकृत स्वरूप दिया गया है—ऐसे इस काल में पूज्य गुरुदेव ने स्वानुभव करके, **आत्मा वह ज्ञानानन्दमूर्ति** पदार्थ है और उसका प्रयत्न, उस ज्ञानानंद मूर्ति का दर्शन होते सहजभाव से प्रगट होता है, जहाँ अब्रह्मचर्य अत्यंत कष्टप्रद लगता है और ब्रह्मचर्य सुखद लगता है; मोक्षमार्ग कष्ट साध्य नहीं है किंतु सहजानंदमय है—ऐसा निरूपण किया—और उसके कारण वीतरागप्रणीत सच्चा मोक्षमार्ग प्रकाशित हुआ, और वांचन-मनन, तत्त्वज्ञान, भक्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य आदि शुभभावों में भी नया तेज प्रगट हुआ।

इन कुमारिका बहिनों ने ब्रह्मचर्य ग्रहण करके सत्संगार्थ सब न्योछावर करने का जो शुभभाव प्रगट किया है, वह अति प्रशंसनीय है। श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि—प्रथम तो सर्व साधन को गौण जानकर, मुमुक्षु जीव ने एक सत्संग ही सर्वार्पणपने से उपासने योग्य है, उसकी उपासना में सर्व साधन आ जाते हैं।

जिसको वह साक्षीभाव प्रगट हुआ है कि यह सत्पुरुष है, और यही सत्संग है—उसे तो अपने दोषों को कार्य कार्य में, प्रसंग-प्रसंग में, क्षण-क्षण में देखना चाहिये और देखकर परीक्षण करना चाहिये, और सत्संग को प्रतिबंधक जो कुछ हो, उसको देह त्याग के खतरे में भी छोड़ना चाहिये; देह त्याग का प्रसंग आ जाये तो भी वह सत्संग गौण करनेयोग्य नहीं है। ऐसे प्राप्त हुए सत्संग को हम सभी, सर्व पुरुषार्थ से आराधें। इन बहिनों ने सत्संग के लिये सर्वस्व न्योछावर करने की जो भावना प्रगट की है, वह हमें भी पुरुषार्थ प्रेरक हो... छोटे-छोटे प्रसंग में भी सत्संग को हम आवरण न करें, और छोटे-छोटे कल्पित सुखों के प्रलोभन में रहकर हम अनंतभव के दुःख नष्ट करने का जो प्रयत्न, उसे न भूलें।

आज इन ब्रह्मचारी बहिनों ने जो असिधाराव्रत लिया है, उसके द्वारा उन्होंने अपने कुल को उज्ज्वल किया है और सारे ही मुमुक्षु मंडल का उन्होंने गौरव-महिमा-बढ़ाया है। उनको सभी मुमुक्षु मंडल की ओर से, हम सबकी ओर से, हृदय से वात्सल्यपूर्ण भावार्द्र अभिनंदन है। उनके ब्रह्मचर्य जीवन में सत्संग का माहात्म्य उनके अंतरंग में कभी मंद न हो और सत्संग के सेवन में चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति का ध्येय उनके हृदय में हमेशा बना रहे... इसप्रकार हमारे सभी के अंतर की (हृदय की) शुभेच्छायें हैं।

वह एक ही चैतन्यपद है कि जो पद आस्वादने योग्य है और उस पद के आस्वादन की धुन में दूसरे सभी संसारिक विषमय आस्वाद को-जो अमृतपान समान भले माने जाते हों किंतु उन सभी विषमय आस्वाद को-छोड़ने की हमें वृत्ति हो... और जहाँ तक उस परमपद का आस्वाद हमें न आवे, वहाँ तक उन आस्वाद लेनेवाले सत्पुरुषों की निरंतर चरणरज की हम सबको आराधना हो—जिस आराधना के फलस्वरूप हम उस परमपद को प्राप्त करें, और अनंत-अनंत काल के भवसागर के जो महा दु:ख, उन्हें तिर जायें...

ब्रह्मचर्य अंक (१) और (२) में से कुछ उद्धरण

- अरे! जीव! बाह्य विषय तो मृगजलवत् हैं, उसमें कहीं भी तेरी शांति का स्रोत नहीं है... ऐसा समझकर अब तो उनसे पीछे हट.... और चैतन्यस्वरूप की ओर अंतर्मुख हो। चैतन्य सन्मुख होने से शांति के झरण में (स्रोत में) तेरा आत्मा तृप्त-तृप्त हो जायेगा।
- हे परम कृपालु गुरुदेव! अध्यात्मरस की मस्ती और ब्रह्मचर्य के पावन रंग से आपका पावन जीवन रंगा हुआ है... इसलिये, आपकी प्रतापवंत छाया में निरंतर निवास करते... और आप श्री के पावन उपदेश का पान करते-करते आपके छोटे-छोटे बाल-बालिकायें भी ब्रह्म जीवन प्राप्त करें तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?
- पूज्य गुरुदेव ने वैराग्यपूर्वक कहा कि यह शरीर तो रज का पुतला है, इससे दृष्टि हटाकर,

चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने से अंदर से शांति का निर्झर बहता है। जीव जो शांति लेना चाहता है, वह शांति कोई संयोग से नहीं आती, किंतु अपने स्वभाव में से ही आती है।

✽ गुरुदेव ने कहा—यह प्रसंग तो वास्तव में दोनों बहिनों के ही आश्रित है.... इन बहिनों की आत्मा अलौकिक है... इस काल में इनका अवतार वह मंडल की बहिनों का महाभाग्य है... जिनके भाग्य होंगे वे ही लाभ लेंगे।

✽ 'नि:संदेह आज यह भौतिकता के ऊपर आध्यात्मिकता की विजय है' (पंडित नाथूलालजी शास्त्री, इंदौर)

✽ सम्यग्दर्शन की बात ही मंगलकार है, बराबर लक्ष्य में रखकर समझने योग्य है... जो एकबार आत्मा को लक्ष्य में रखकर अंतर से इस बात को समझ ले तो अनंत काल में अप्राप्त ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन का लाभ होता है, इस बात को श्रवण करने का सुयोग मिलना भी दुर्लभ है और समझने में स्वभाव का अपूर्व पुरुषार्थ है।

✽ हे जीव! तू सर्वप्रथम इस बात का निर्णय कर कि आत्मा के स्वभाव के बिना किन्हीं भी बाह्य विषयों में सुख नहीं है, आत्मस्वरूप में अंतर्मुख होने से ही सुख है। इसप्रकार निश्चय करके बाह्य विषयों में से सुख की बुद्धि छोड़ और अंतर्मुख चैतन्य के आनंद का अनुभव करने का उद्यम कर... आनंद के झरने तेरी आत्मा में बहते हैं।

✽ सच्चा ब्रह्मचर्य जीवन, जीने के इच्छुक जीवों का प्रथम कर्तव्य यह है कि, अतीन्द्रिय आनंद से भरपूर और सभी पर विषयों से शून्य ऐसे अपने आत्मस्वभाव की रुचि करना... उसी का लक्ष्य करना... और उसी का अनुभव करके उसी में तन्मय होने का सतत प्रयत्न करना।

ब्रह्मचर्य की दीक्षा

[एक साथ ८ कुँवारी बहिनों ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की]

हमारे साधर्मी भाईयों को तीसरी बार महान समाचार देते अत्यंत हर्ष होता है कि इस भाद्रपद की सुदी १ के शुभ मंगलवार के दिन एक साथ आठ कुँवारी बहिनों ने पूज्य गुरुदेव के समक्ष ब्रह्मचय प्रतिज्ञा अंगीकार की है। यह प्रसंग आनन्द का, वैराग्य का और शासन की शोभा का है।

आठ बहिनों के नाम—

१– वीणा बहिन, उम्र २१ वर्ष, श्री सिताबचंदजी हीरालालजी की सुपुत्री (खण्डवा)

२– सुबोध बहिन (बी.ए. बी.टी.) उम्र २३ वर्ष श्री हुकमचंदजी धन्नालालजी की सुपुत्री (खण्डवा)

३– तारा बहिन, उम्र २३ वर्ष श्री भूपतराय जैचंद की सुपुत्री (अमरापुर)

४– कोकिला बहिन (बी.ए.) उम्र २४ वर्ष, श्री अनूपचंद मूलजीभाई खारा की सुपुत्री, (रांची)

५– निर्मला बहिन, उम्र २१ वर्ष श्री पोपटलाल छगनलालजी की सुपुत्री (परनाला) लींबड़ी।

६– हर्षदा बहिन, उम्र २२ वर्ष श्री वृजलाल मगनलाल शाह की सुपुत्री (जलगाँव)

७– रंजन बहिन, उम्र २४ वर्ष श्री धीरजलाल कस्तूरचंद जोवालिया की सुपुत्री (नागनेश)

८– शारदा बहिन (बी.ए.) उम्र २७ वर्ष, श्री जयसुखलाल पोपटलाल संघवी की सुपुत्री (राजकोट)।

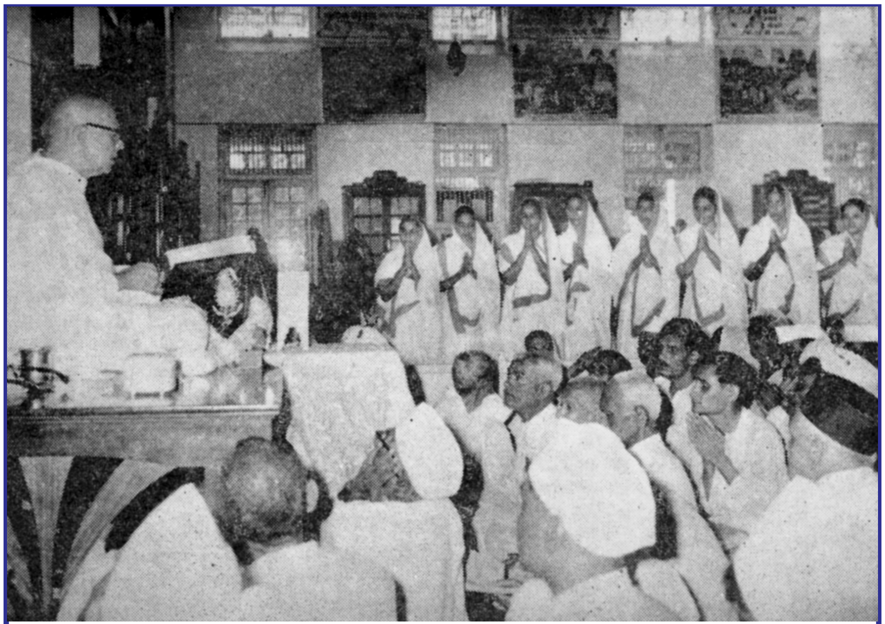

पूज्य स्वामीजी आठ कुमारी बहिनों को ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार करा रहे हैं।

पूज्य बहिन श्री बहिन की चरण छाया में ब्रह्मचारिणी बहिनों का समूह

चित्र नंबर १

पूज्य स्वामीजी द्वारा आठ कुमारी बहिनों को प्रतिज्ञा अंगीकार कराते वक्त

प्रतिज्ञा—हृदय की भावना

हमारा जीवन संतों की छाया में आत्महित साधने के प्रयत्न में ही बीते, ऐसी भावनापूर्वक प्रतिज्ञा लेने के लिये एक साथ अष्ट वीर बालायें जब गुरुदेव के समक्ष उपस्थित हुईं, उस समय का दृश्य वैराग्य प्रेरक था... जिस उद्देश्य से और जिस लक्ष्य से यह किया जाता है, उस उद्देश्य की और उस लक्ष्य की खास महत्ता है; उसमें भी ज्ञानियों की सत-संगति के योग में रहकर यह सब होता है – वह सबसे बड़ी विशेषता है।

चित्र नंबर २

ब्रह्मचारिणी बहिनों को पूज्य बहिन श्री बहिन की

हित-शिक्षा

'आप आत्महित के हेतु से आदर्श जीवन निभाना,... सर्वज्ञ वीतराग कथित देव-शास्त्र-गुरुओं के प्रति भक्ति और सन्मान बढ़ाना... आपस में एक-दूसरे की बहिन ही हो, इस प्रकार वर्तन करना, वैराग्यसहित रहना... ऐसे सदाचार में शासन की शोभा है। आत्मा का कल्याण कैसे हो... और उसके लिये पूज्य गुरुदेव क्या कहते हैं, उसका विचार करना... स्वाध्याय और मनन बढ़ाना। ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा के बल से स्वाध्याय मनन करना। इस प्रकार अपने-अपने जीवन में आत्मकल्याण करने का लक्ष्य रखना।' (गुजराती ब्र० अंक नं०२ में से उद्धृत)

चित्र नंबर ३

परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी आत्मिक प्रयत्न के संबंध में दिशा बताते हुये बहुत गहराई से कहते हैं कि—

‘‘आत्मस्वरूप क्या है, उसके निर्णय करने की सतत धुन लगना चाहिये... सब न्यायों के द्वारा निर्णय करने की लगन लगना चाहिये। सभी पहलुओं से अंदर (भीतर) निर्णय न हो, वहाँ तक चैन न पड़े। यों ही ऊपरी-ऊपरी बातें रखकर विसर्जन कर दिया जाये। ऐसा नहीं होना चाहिये। भीतरी भाव से अंतर में मंथन करके ऐसा दृढ़ निश्चय करे कि—सारा विश्व फिर जाये (प्रयोजनभूत तत्त्वों के विषय में विपरीत विचार धारण करे) तो भी अपने निर्णय में शंका उत्पन्न न हो। ऐसा आत्मस्वरूप का निर्णय करते परिणति का वेग अंतरोन्मुख होता ही है। आत्मार्थी होकर आत्मा का हित साधने के लिए जो जागृत हुआ, वह अवश्य आत्महित को प्राप्त करता ही है।

(गुजराती ब्र० अंक नं० २ में से)

पूज्य बहिन श्री बहिन की चरण छाया में आठ ब्रह्मचारिणी बहिनें
खड़ी पंक्ति—वीणाबहिन, निर्मला, तारा, शारदा, रंजन, हर्षाबहिन
बैठे हुये—सुबोधिनी, कोकिला बहिन

ये आठों बहिनें कई वर्षों से पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मरस झरते उपदेश का लाभ लेकर सत्समागम में रहकर तत्त्वों का अभ्यास करती रही हैं। और पूज्य बेन श्री बेन की वात्सल्य भरी छाया में ज्ञान-वैरागय का पोषण कर रही हैं। आत्मकल्याण की भावना जागृत होते उनको ऐसा अनुभव होने लगा कि अपना जीवन संतों की छाया में आत्महित साधने के प्रयत्न में ही व्यतीत हो। इस उत्तम भावनापूर्वक उन्होंने स्वयं का उत्तम जीवन सत्समागम में अर्पण किया और अल्पवय में आजीवन ब्रह्मचर्य की दीक्षा स्वीकार की। इस प्रशंसनीय कार्य के उपलक्ष में सर्व बहिनों को धन्यवाद। इस कार्य में स्वीकृति देने में उन सब बहनों के माता-पिता और अन्य कुटुम्बियों को भी धन्यवाद। हमारी साधर्मी बहिनों ने आज से जीवन के नूतन पंथ में प्रयाण करने का जो नया पग रखा है तथा आत्महित के जो उत्तम ध्येयपूर्वक मंगल मार्ग में प्रयाण कर रही हैं। उस जीवन ध्येय में गुरुदेव के उपदेश के प्रताप से संतों की छाया में वे शीघ्र सफल होवें, ऐसी हम भावना भाते हैं।

आज पूज्य गुरुदेव के महान प्रताप से जिनशासन का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है... नये-नये प्रभावना के प्रसंग बनते जा रहे हैं... और गुरुदेव के अध्यात्मरस पोषक उपदेश से प्रभावित होकर अनेक जीव संतों की शीतल छाया में आत्महित का उद्यम कर रहे हैं। ऐसे ही उद्देश्य पूर्वक एकसाथ ८-८ कुमारिका बहिनों के आजीवन ब्रह्मचर्य के प्रसंग बनते जा रहे हैं।

आजीवन ब्रह्मचर्य रहने के उपरांत जिस उद्देश्य से और जिस लक्ष्य से यह किया जा रहा है, उस उद्देश्य की और उस लक्ष की महत्ता है, और उसमें भी ज्ञानियों के सत्संग में–साक्षात् रहकर यह सब होता है, वह सबसे बड़ी विशेषता है।

ब्रह्मचर्य के प्रतिज्ञा के अगले दिन से ही दीक्षा महोत्सव जैसा कल्याणकारी वातावरण देखने में आता था, सब बहिनों के कुटुम्बीजन इस समय सोनगढ़ आये थे; स्थान–स्थान पर मंडप बँधे थे, और सब भाद्र० सुदी १ की राह देखते थे... सुदी १ सबेरे जिनमंदिर में ब्र० बहिनों सहित समूह पूजन हुवा... बाद में इस प्रसंग के उपलक्ष में शास्त्रजी की रथयात्रा निकली, जिसमें वे सब बहिनें हाथ में थाल पर शास्त्रजी को विराजमान कर रथयात्रा सहित प्रवचन मंडप में आईं, गुरुदेव के प्रवचन के बाद ब्रह्मचर्य दीक्षा की विधि हुई, प्रतिज्ञा लेने के लिये एकसाथ आठ वीर बालाएँ जब गुरुदेव के समक्ष उपस्थित हुईं, उससमय का दृश्य वैराग्य–प्रेरक था। उन सब बहिनों के माता–पिता और संबंधियों की अनुमति सहित गुरुदेव ने ब्रह्मचर्य की दीक्षा देते हुए कहा कि 'आज ये आठ पुत्रियाँ ब्रह्मचर्य ले रही हैं, वह अच्छा कार्य है। कुल मिलकर ३७ बहिनें होती हैं। १४ साल पूर्व छह बहिनें, बाद ७ साल पूर्वक १४ बहिनें ब्रह्मचारिणी हुई, बीच में कई बहिनों ने प्रतिज्ञा ली और आज ८ बहिनों की वृद्धि होती है। इसप्रकार १४ साल में ३७ बहिनें बाल ब्रह्मचारी होती हैं। यह सब इन दो बहिनों का (बहिन श्री–बहिन का) योग है, उन्हीं के लेकर हैं, सब बहिनों के माता–पिता और संबंधियों की सम्मतिपूर्वक यह ब्रह्मचर्य दिया जाता है'—इसप्रकार कहकर सभा में हर्ष के बीच में गुरुदेव ने आठ कुमारिका बहिनों को ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा कराई थी।

भारत के इतिहास में विरल होने से ऐसी ब्रह्मचर्य दीक्षा के ऐसे प्रसंग गुरुदेव के प्रताप से बारम्बार बनते रहते हैं। विषय कषायों से भरे हुये वर्तमान के कषाय अग्नि की ज्वाला समान लौकिक वातावरण में ऐसे प्रसंग संसार को चुनौती देते हैं कि अरे जीवों! सुख विषय कषायों में नहीं है—सुख तो अध्यात्म जीवन में हैं... सुख के लिये विषयों को ठुकरा कर संत की छाया में जाकर अध्यात्म साधना में जीवन को लगाना चाहिये।

इन सब बहिनों ने आत्महित के लिये जीवन समर्पण करने का जो साहस प्राप्त किया है, उसमें परम उपकारी परम पूज्य गुरुदेव के आत्मस्पर्शी उपदेश का जो मुख्य प्रभाव है ही; इसके उपरांत ऐसे ही महत्व का एक दूसरा भी कारण है, और वह है–पूज्य दो बहिनों की शीतल छाया और वात्सल्य भरी उष्मा! परम पूज्य बहिन श्री चंपाबहिन तथा परम पूज्य बहिन शांता बहिन—इन

दोनों बहिनों का धर्म रंग से रंगा हुआ सहज जीवन तो नजर से प्रत्यक्ष देखने से ही जिज्ञासु को ख्याल में आ सकता है, उन दोनों बहिनों की पवित्रता, अनुभव, संस्कार, वैराग्य तथा देव-गुरु-धर्म के प्रति अपार भक्ति, अर्पणता विनय और वात्सल्य आदि का सविवरण वर्णन यहाँ हो सकता नहीं। उन्हीं की छत्रछाया के कारण ही छोटी उम्र की बहिनें माता-पिता का संग छोड़कर ऐसी हिम्मत कर सकी हैं। इन बहिनों के जीवन में पूज्य बहिन श्री बहिन अपार वात्सल्य पूर्वक निरंतर ज्ञान वैराग्य का सिंचन करती हैं। इसप्रकार इनके जीवन में पूज्य बहिन श्री बहिन का भी महान उपकार है, उन्हीं का आदर्श जीवन सहज ही ज्ञान-वैराग्य की प्रेरणा देता है।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेनेवाली इन बहिनों ने अनेक साल तक परम पूज्य गुरुदेव के उपदेश के श्रवण उपरांत अनेक शास्त्रों का अभ्यास किया है। दर्शन-पूजनादि का कार्यक्रम तो उनके लिये सहज है। रात्रि भोजन त्याग आदि योग्य आचारों का भी वे पालन करती हैं। ब्रह्मचर्य जीवन का निर्वाह करने का निर्णय उन सबने अपने दृढ़ विचार के बल से किया है। इन सब साधर्मी बहिनों के प्रति हार्दिक अभिनंदनपूर्वक संतों की छाया में आत्म प्रयत्नपूर्वक सभी अपने ध्येय को शीघ्र प्राप्त करें, ऐसी भावना भाते हैं।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा विधि के बाद माननीय विद्वान बंधु श्री हिम्मतलालभाई ने संघ की ओर से बहिनों को अभिनंदन देनेवाला भावार्द्र वक्तव्य दिया—जो इस अंक में अक्षरश: दिया गया है। भाषण के बाद ब्रह्मचारिणी बहिनों के रिश्तेदारों की ओर से तथा अन्य अनेक मुमुक्षुओं की ओर से इस प्रसंग निमित्त अनेक रकम सूचित करने में आयी थी। श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट की ओर से प्रत्येक ब्रह्मचारिणी बहिनों को अभिनंदन पूर्वक एक-एक साड़ी और चाँदी का गिलास भेंटस्वरूप दिया गया था। अंत में ८ ब्रह्मचारिणी बहिनों की ओर से सभी को श्रीफल भेंट किये थे, इसप्रकार यह प्रसंग पूर्ण हुआ था।

उस दिन पूज्य गुरुदेव का आहारदान ब्रह्मचारिणी बहिनों की ओर से श्री गोगीदेवी आश्रम के नूतन स्वाध्याय भवन में हुआ था, ब्रह्मचारिणी बहिनों के कुटुंबियों की ओर से पाँच दिन तक समस्त संघ को प्रीतिभोज हुआ, बाहर गाँव से शुभेच्छा के अनेक संदेश आये थे 'आत्मधर्म' भी ब्रह्मचारिणी बहिनों के जीवन ध्येय की सफलता चाहता है। — ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

(गुजराती आत्मधर्म से उद्धृत)

अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य की गुण (पर्याय) उत्पन्न नहीं करा सकता

'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य की गुण (पर्याय) उत्पन्न नहीं करा सकता।' ऐसा बताते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश २१९ में कहते हैं कि—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२१९॥

अर्थ—तत्त्वदृष्टि से देखने पर राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य जरा भी दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में प्रतिभासित होती है।

भावार्थ—राग-द्वेष चेतन के ही परिणाम हैं। अन्य द्रव्य आत्मा को राग-द्वेष नहीं करा सकता क्योंकि समस्त प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है। अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती।

इसी भाव को आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी गाथा ३७२ में कहते हैं कि अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण (पर्याय) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अत: यह सिद्धांत है कि समस्त द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं।

टीका—परद्रव्य जीव के रागादि कराते हैं, ऐसी धारणा न करनी क्योंकि किसी द्रव्य में पर का कार्य कराने की योग्यता-सामर्थ्य नहीं है क्योंकि समस्त द्रव्यों की स्वभाव से ही उत्पत्ति (द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति) होती है।

अत: आचार्यदेव कहते हैं कि हम जीव के रागादि का उत्पादक परद्रव्य को नहीं मानते हैं इसलिए उस पर (परद्रव्य पर) क्या क्रोध करें।

टेप रील द्वारा प्रवचन प्रसार

पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक खास प्रवचन, धर्म जिज्ञासुओं के लाभार्थ नई टेप रीलें भरकर भक्ति भजन स्तवनों की टेल रीलें भी टेप रील रेकोर्डिंग मशीन-जिनेन्द्र पंच कल्याणक की रंगीन फिल्म-प्रोजेक्टर मशीन सहित, आमंत्रित गाँव में श्री मधुकरजी को भेजते हैं। जैनदर्शन शिक्षण वर्ग भी चलाते हैं—वैराग्यमय भजन भक्ति का संगीतमय कार्यक्रम भी जानते हैं, इस दौरे में साथीदार के रूप में श्री रमेशचंदजी को भेजा है, समाज से प्रार्थना है कि ठहरने आदि में उनको कष्ट न हो। कुछ भेंट-चंदा लेते नहीं। गाँव के अग्रणी संस्था के प्रमुख, मंत्री द्वारा आमंत्रण आने से ही भेजते हैं।

भरूच, अंकलेश्वर, पालेज, मीआगांव-करजण, बरोड़ा, पादरा, कुशलगढ़ और बोटाद का कार्यक्रम सम्पन्न होकर हिम्मतनगर दस लक्षण पर्व में हमेशा छह घंटे का कार्यक्रम था, भाद्र० सुदी १५ के बाद जयपुर, फुलेरा, एत्मादपुरा, जावद, नीमच छावनी, नारायनगढ़, बड़नगर, मंदसोर, प्रतापगढ़, महिदपुररोड़, उज्जैन, भोपाल, विदिशा तक का कार्यक्रम है।

✤ जिनके पास टेप रील मशीन है, प्रवचन सुनने के लिये टेप रीलें सुनकर वापिस भेजना हो तो प्रत्येक टेप रेल के २५) डिपाजिट से भेजते हैं।

पता—प्रवचन प्रचार विभाग

द्वारा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

पोस्ट-सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रचार विभाग के समाचार

दसलक्षण धर्म पर्व पर प्रवचनकार विद्वानों के लिये बहुत गाँवों से माँग आयी थी किंतु १३ स्थानों पर ही भेज सके हैं।

(१) बम्बई में श्री लालचंदभाई (राजकोट)

(२) घाटकोपर (बंबई उपनगर) श्री प्राणलालभाई, (अहमदाबाद)

(३) अहमदाबाद श्री छोटेलालभाई (सोनगढ़)

(४) दाहोद श्री चंदुलालभाई (अहमदाबाद)

(५) उज्जैन श्री कैलाशचंदजी (बुलंदशहर)

(६) जबलपुर श्री बाबुलालभाई चुन्नीलाल महेता (फतेपुर गुजरातवाले)

(७) विदिशा श्री धन्नालालजी (लश्कर)

(८) सागर (म.प्र.) श्री हिम्मतलालजी (बंबई)

(९) राजकोट श्री खेमचंदभाई (सोनगढ़)

(१०) दहेगाँव श्री हीरालालजी (बंबई)

(११) लश्कर ब्रह्मचारी श्री हेमराजजी (उदयपुर)

(१२) खंडवा, श्री पंडित गेंदालालजी (बूँदी)

(१३) नैरोबी अफ्रीका श्री देवशीभाई (राजकोट)

प्रतापगढ़, भिण्ड, सहारनपुर, कोटा, पादरा आदि आठ गाँवों से प्रवचनकार भेजने के लिये माँग आयी थी, किंतु नहीं भेज सके। अत: उन सबसे हम क्षमायाचना करते हैं।

(व्य०-प्रचार विभाग)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।